अध्यात्म विचारणा

५५

गुजरात विद्यासभा : अहमदाबाद

संशोधन ग्रन्थमाला—पु. ५५

अध्यात्मविचारणा

[तीन व्याख्यान]

व्याख्याता

पं० सुखलालजी संघवी

अनुवादक

शांतिलाल मणिलाल शास्त्राचार्य, B. A.

गुजरात विद्यासभा : अहमदाबाद

प्रकाशक : प्रो. रसिकलाल छोटालाल परीख, मा. अध्यक्ष—सेठ भो. जे. अध्ययन-संशोधन विद्याभवन, गुजरात विद्यासभा, भद्र, अहमदाबाद

आवृत्ति प्रथम १२५० * * * ई० १९५८ वि० २०१४

[illegible] रुपया

सोल एजेन्ट
जैन संस्कृति संशोधन मंडल
F/3, वाराणसी ५

श्रीशङ्कर मुद्रणालय, हाथीगली, वाराणसी ।

निवेदन

स्वर्गीय सेठ श्री पोपटलाल हेमचन्दके सुपुत्र शाह चिमनलाल पोपटलालने अपने पिताजीके संस्मरणार्थ १९४६ में गुजरात विद्यासभाके श्री भो० जे० विद्याभवनको जिन शर्तोंपर निधि प्रदान की उसमें मुख्य शर्त यह थी कि 'आत्म-परमात्मतत्त्वके विषयपर तज्ज्ञ विद्वानों एवं विचारकोंद्वारा शक्य हो वहाँतक स्वभाषा गुजरातीमें अथवा हिन्दीमें अथवा अंग्रेज़ीमें व्याख्यान दिलवाने। उन व्याख्यानोंमें जैनदृष्टिसे आत्म परमात्मतत्त्वके विषयको इस व्याख्यानमालाके विषयोंमें, एक मुख्य विषयके तौरपर स्थान देना।'

इस उद्देश्यको कार्यान्वित करनेके लिए 'श्री पोपटलाल हेमचन्द अध्यात्म-व्याख्यानमाला' की योजना सोची गई और उसका प्रारम्भ सुप्रसिद्ध तत्त्वचिन्तक और अध्यात्मवादी प्रा० आर० डी० रानडेके हाथों ता० ६ अगस्त, १९४७ के दिन हुआ। यहाँपर तथा अन्यत्र इसी विषयपर दिए गये उनके व्याख्यानोंका संग्रहग्रन्थ 'The Conception of Spiritual Life in Mahatma Gandhi and the Hindi Saints' ता० २-१०-१९५६ (गाँधीजयन्ती) के दिन प्रकाशित हुआ है।

इसके पश्चात् गुजरातसे बाहरके दूसरे विद्वान् व्याख्याताओंको व्याख्यान देनेके लिए निमंत्रण भेजे गये, जिनमें कलकत्ता विश्वविद्यालयके संस्कृत विभागके भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० सातकोड़ी मुकर्जी भी एक थे। उन्होंने व्याख्यान देनेका स्वीकार भी किया था, किन्तु स्वास्थ्यकी प्रतिकूलताके कारण वे नहीं आ सके।

ऐसी स्थितिमें पंडित श्री सुखलालजीको आत्म-परमात्मतत्त्व विषयपर व्याख्यान देनेकी प्रार्थना की गई। उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर हमें अनुगृहीत किया। पण्डितजीने अपने व्याख्यान इस प्रकार दिये थे—

रविवार, ता० ९–१०–१९५५ : आत्मविचारणा
सोमवार, ता० १०–१०–१९५५ : परमात्मा और मोक्षविचारणा
मंगलवार, ता० ११–१०–१९५५ : अध्यात्मसाधना

ये व्याख्यान गुजरात विद्यासभाके तत्कालीन अध्यक्ष माननीय श्री गणेश वासुदेव मावलंकरके सभापतित्वमें हुये थे।

गत वर्ष ये व्याख्यान 'अध्यात्मविचारणा' के नामसे ग्रन्थरूपसे प्रकाशित किये गये थे। इन व्याख्यानोंकी विशिष्टता पण्डितजीके सर्व-सिद्धान्तसमन्वयबुद्धिसे किए गये स्वतंत्र निरूपणमें निहित है। केवल गुजरातके ही नहीं, भारतभरके दार्शनिक विद्वानोंमें पण्डितजीका सबहुमान स्थान है। इससे इतर प्रान्तोंके लोगोंका भी मन पण्डितजीके विचारोंमें अवगाहन करनेका सतत रहता है। इस बातको ध्यानमें रखकर इन व्याख्यानोंका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित करनेका निर्णय किया गया और श्री शांतिलाल मणिलाल B. A. द्वारा हिन्दी अनुवाद करा कर इसी 'शाह पोपटलाल हेमचन्द अध्यात्म-व्याख्यानमाला' के अंक ३ तथा श्री भो० जे० अध्ययन-संशोधन विद्याभवनकी संशोधन-ग्रन्थमालाके ५५ वें पुष्पके रूपमें वह प्रकाशित किया जाता है।

ता० १ दिसम्बर, १९५७
पो० बॉ० नं० २३, भद्र,
अहमदाबाद–१

रसिकलाल छोटालाल परीख
अध्यक्ष
श्री भोलाभाई जेशिंगभाई अध्ययन-संशोधन
विद्याभवन, गुजरात विद्यासभा

प्रस्तावना

— तीन भूमिकाका फल —

मेरे ये तीन व्याख्यान, जो मेरी श्रवन, मनन एवं निदिध्यासनकी भूमिकाके फल जैसे हैं, पुस्तकरूपसे प्रकाशित हो रहे हैं। मैंने जो-जो श्रवण किया उसे युक्ति या न्यायसे परखनेका प्रयत्न किया है और कुछ गहरेमें उतरकर स्वतंत्र चिन्तनका भी यत्किंचित् प्रयास किया है। इसी-लिए मैंने अपनी इस पुस्तकको 'तीन भूमिकाका फल' माना है।

परन्तु ये तीन भूमिकाएँ भी मेरी शक्तिकी मर्यादामें ही आती हैं। अन्तिम साक्षात्कारकी भूमिकाको तो मैं छूतक नहीं पाया, अतः इन व्याख्यानोंमें जो विचार प्रस्तुत किए गये हैं वे साक्षात्कारकी कोटिके नहीं हैं। वे चाहे जैसे हों, परन्तु मैं तो उन्हें परोक्ष कोटिका ही मानता हूँ; और अन्तिम अनुभवकी कसौटीपर कसे न जायें तबतक उन्हें साक्षात्कार-का नाम भी नहीं दिया जा सकता। पाठक इसी दृष्टिसे मेरी यह पुस्तक पढ़ें और उसपर विचार करें।

प्रस्तुत पुस्तकमें तीन व्याख्यान हैं—पहला आत्मतत्त्वविषयक, दूसरा परमात्मतत्त्व-विषयक और तीसरा साधना-विषयक। इन तीनों व्याख्यानोंमें मैंने उस-उस विषयके बारेमें विचारका क्रमविकास दिखलाने-का तथा यथासम्भव दार्शनिक विचारोंकी तार्किक संगति बिठानेका प्रयत्न किया है। साथ ही, भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन किस-किस तरह भिन्न प्रतीत होनेपर भी अन्तमें एकरूप-से हो जाते हैं यह भी तुलनाद्वारा दिखलाया है। जहाँ सम्भव और शक्य था वहाँ उस वक्तव्यको स्पष्ट करने, उसके आधार दिखलाने और उस बारेमें विशेष जाननेके इच्छुकको सामग्री प्रस्तुत करनेके लिए पादटिप्पण भी दिये हैं।

जो भारतीय दर्शनोंके मौलिक अभ्यासी हों, जिन्होंने मूल और टीकाके साथ दार्शनिक ग्रन्थोंका अभ्यास किया हो वे तो यदि छपे हुए क्रमसे ही व्याख्यान पढ़ेंगे तो भी उन्हें समझनेमें ज़रा-सी भी कठिनाई प्रतीत नहीं होगी, परन्तु तत्त्वजिज्ञासु होनेपर भी जो मूल ग्रन्थोंके अभ्यासी नहीं हैं उनके वाचन एवं विचारके लिए मेरी नम्र सूचना है कि सर्वप्रथम वे तीसरा साधना-विषयक व्याख्यान पढ़ें, बादमें दूसरा परमात्म-विषयक और उसके पश्चात् पहला आत्मतत्त्व-विषयक।

पहले व्याख्यानमें मैंने जो आत्मतत्त्वके स्वरूप-विषयक क्रमविकासकी उपपत्ति दिखलाई है वह मेरी अपनी अध्ययन-मननमूलक विचारसरणी है। उससे भिन्न उपपत्ति होनेका पूरा सम्भव है, फिर भी मेरे द्वारा प्रस्तुत की गई उपपत्ति उससे अधिक संगत उपपत्तिकी खोजमें सहायक होगी तो भी मैं अपने इस प्रयत्नको सफल समझूँगा। जहाँ क्रमबद्ध लिखित इतिहास न हो वहाँ विचारोंकी संगतिके लिए तर्क एवं अनुमानके ऊपर आधार रखना पड़ता है। ऐसा होनेपर भी मैंने, शक्य था वहाँ उस-उस अनुमान या तर्कके उपलब्ध प्रमाणोंका निर्देश किया है।

प्रथम व्याख्यान उन-उन दर्शनोंकी भिन्न-भिन्न परिभाषा, भिन्न-भिन्न प्रक्रिया और भिन्न-भिन्न कल्पनाओंकी तार्किक संगति खोजनेके प्रयत्नकी वजहसे विशेष गहन या कुछ दुरूह-सा हो गया हो तो वह अनिवार्य है। गहन या दुर्गम बननेके भयसे गहरा विचार करनेका छोड़ दें तो कभी भी मूलगामी चिन्तन या संशोधन हो ही नहीं सकेगा। और ऐसे भी थोड़े तत्त्वचिन्तक व अभ्यासी हैं जो स्थूल एवं छिछले विचारोंसे सन्तुष्ट नहीं होते। वे कुछ मौलिक चिन्तनकी सर्वदा अपेक्षा रखते हैं। इसीसे मैंने अपनी मर्यादामें उस दिशाकी ओर भी थोड़ा-सा प्रयत्न किया है।

श्री पोपटलाल हेमचन्द व्याख्यानमालाके तत्त्वावधानमें मैं भी व्या-

व्यान दूँ ऐसी इच्छा मेरे निकटके मित्र और श्री भोलाभाई जेशिंगभाई विद्याभवनके विद्वान् अध्यक्ष श्री रसिकभाईने १६४८ से पहले प्रदर्शित की थी। डॉ० आर० डी० रानडेने उक्त व्याख्यानमालाके उद्‌घाटनके अवसरपर सर्वप्रथम व्याख्यान दिये। वे व्याख्यान अभी हाल ही में प्रकाशित हुये हैं। उनके पश्चात् मैं ही व्याख्यान दूँ ऐसी श्री रसिकभाईकी इच्छा थी। उनकी इच्छाके अनुसार मैं सन् १६४८ से इस बारेमें कुछ वाचन-चिन्तन करता रहा, पर भीतर ही भीतर मेरे मनमें एक संस्कार पड़ा था। वह यह कि मेरी जगह गुजरातके बाहरके किसी दूसरे विशिष्ट व्यक्तिका नाम सूचित करूँ और इस तरह श्री रसिकभाईका मन मना लूँ। आखिरकार कलकत्ता विश्वविद्यालयके सर आशुतोष ज्ञानपीठके प्राध्यापक डॉ० सातकोड़ी मुकर्जीने यहाँ आना मान्य रखा। सन् १९५३ और १९५४ दोनों वर्षोंमें निश्चित रूपसे सूचित समयपर वे न आ सके तब स्व० दादा मावलंकर और श्री रसिकभाईने मेरे सिरपर यह सेहरा बाँधा।

मैं सन् १६४६ के बाद एक तरहसे निश्चिन्त-सा था कि ये व्याख्यान अब मुझे नहीं देने पड़ेंगे, पर आखिरकार १६५५ में मैं ही व्याख्यान दूँ ऐसा तय हुआ। मैं तनिक अकुलाया तो सही, पर मेरी मानसिक तैयारी तो थी ही; अतः मैंने यथाशक्ति और यथासमय वह काम निबटाया। इस समय मुझे मेरा पहलेका लिखा हुआ उपयोगी हुआ। वह था मेरे प्रथम व्याख्यानका मसौदा। मैंने १६४८-४९ के दरमियान कभी प्रथम व्याख्यानका खर्रा लिखा लिया था। वह था तो कच्चा खर्रा, पर मेरी पुत्रीकल्प शारदा पण्डित बी० ए०, जो उस समय मुझे अनेक विषयों-की किताबें सुनाती और मेरा लेखनकार्य करती थी, ने अपनी सूझसे ही मेरे उस अशोधित लेखकी एक नक़ल तैयार कर रखी थी। वह सुरक्षित भी रही थी, अतः एक तरहसे पहले व्याख्यानका कार्य तो मानो निबट-सा गया था। सन् १६५५ के ग्रीष्ममें यह तय हुआ कि दिल्लीसे

दादासाहबके आनेपर मेरे तीनों व्याख्यान हों। इस निर्णय के अनुसार वे व्याख्यान अक्टूबरमें दिए गये, पर दूसरा और तीसरा व्याख्यान लिखानेका कार्य बाक़ी था। अन्ततः वह भी १९५५ के दिसम्बरमें पूरा हुआ।

तीनों व्याख्यानों की प्रेसकॉपी तो तैयार हुई, पर पादटिप्पण और दूसरे उद्धरणोंका कार्य तो अवशिष्ट था ही। मेरे निकटके मित्र और सहचारी तथा बनारस विश्वविद्यालयमें जैन ज्ञानपीठके प्राध्यापक श्री दलसुखभाई मालवणियाके सहयोगके बिना वह काम पूरा करना मेरे लिए कुछ अधिक कठिन था। वह कार्य भी ग्रीष्मावकाशमें जब वह अहमदाबाद आये तब पूर्ण हुआ। अब, जो रूप तैयार हुआ वह पाठकोंके समक्ष उपस्थित है।

गुजरात विद्यासभाके स्वर्गीय अध्यक्ष माननीय दादासाहब और श्री-भो० जे० विद्याभवनके बहुश्रुत संचालक श्री रसिकभाई परीख इन दोनोंका मैं इस स्थानपर हार्दिक आभार मानता हूँ। यदि उनका मेरे प्रति सहज सद्भाव और व्याख्यान देनेका आग्रह न होता तो मैं शायद ही इस श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी भूमिकामेंसे गुजरकर जो कुछ अल्प-स्वल्प फलित हुआ है वह गुजराती भाषाद्वारा गुजरातके समक्ष सर्वप्रथम रख पाता।

इन व्याख्यानों की तैयारीमें मुझे अनेक सहृदय मित्रोंने अनेक भाँति-की सुविधायें प्रदान की हैं। उन सबका नामनिर्देश किए बिना ही मैं आभार मानता हूँ।

हिन्दी अनुवाद श्री शांतिलाल मणिलाल जैन B. A. (Hon.), जैन-दर्शनाचार्य ने किया है। वह अब हिन्दी पाठकोंके समक्ष रखा जाता है—

—सुखलाल

अध्यात्म विचारणा

प्रवेश

जिस समय अधिकांश लोगोंका ध्यान विशेषकर जीवन-स्पर्शी और तात्कालिक निर्णयकी अपेक्षा रखनेवाले आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, शारीरिक और ऐसे ही दूसरे विषयोंमें लगा हो, उस समय स्थूल जीवनके साथ जिसका स्पष्ट सम्बन्ध न हो और कला, साहित्य एवं विज्ञान जैसे सूक्ष्म विषयोंकी कोटिसे भी जो पर माना जाता हो तथा जिज्ञासुको भी जिसकी तत्काल या कुछ सरल रीतिसे प्रतीति शक्य न हो, ऐसे आत्मा-परमात्मा सरीखे एक गूढ़ विषयकी चर्चा व विचारणा लोगोंके सम्मुख उपस्थित करना और ऐसी विचारणाकी ओर लोगोंका मन मोड़नेका प्रयत्न करना कहाँतक ठीक है ?—ऐसा प्रश्न सहज ही उपस्थित हो सकता है। इसका उत्तर दिये बिना आत्मा-परमात्माकी विचारणामें आगे बढ़ना मानो इस प्रश्नको एक तरहसे टालना है।

पहली बात तो यह है कि कोई भी विशेष अभ्यासी अपनी ख़ास पसन्दगीके विषयका अभ्यास करते समय उसके मूल्यांकन-की कसौटी यदि यही रखे कि वह विषय लोगोंको अच्छा लगे अथवा जल्दी समझमें आ जाय ऐसा होना चाहिये और साथ ही वह ऐसा भी होना चाहिये जो हमारी तात्कालिक आवश्यकताकी पूर्ति कर सके, तो अध्ययनके विषयोंमें बहुतसे महत्त्वके विषयोंका समावेश ही न हो सकेगा; और ऐसा हो तो आजतक मानवजातिने चिन्तन, मनन एवं संशोधनके प्रदेशमें जो बहुमूल्य योगदान दिया है वह हमें कदापि प्राप्त न होता। मानव-स्वभाव

ही कुछ ऐसा है कि कोई एक मनुष्य एक विषयमें न तो सर्वदा रस ही ले सकता है और न उसमें लम्बे अरसे तक तल्लीन ही रह सकता है। एक ही समयमें भिन्न-भिन्न स्वभाव एवं भिन्न भिन्न योग्यतावाले अभ्यासियोंकी साधना चढ़ते-उतरते क्रममें तथा स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतर कही जा सके ऐसे विविध विषयोंमें हमेशा चलती आई है। हम यह भी देखते हैं कि जो आर्थिक व औद्योगिक—जैसे प्रवृत्तिक्षेत्रोंमें गलेतक डूबे रहते हैं वे भी तनिक आराम और शान्तिकी साँस लेनेके लिए समय-समयपर भजन-कीर्तन, यात्रा या सन्त-समागमके बहाने, न जाने क्यों, किसी गूढ़ शक्तिकी सहायता और सहारा लेनेका प्रयत्न करते हैं। कामधन्धेसे निपटनेपर, दिनमें-समय न मिले तो रातमें ही सही, असंख्य स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी भाषामें और अपने-अपने विशिष्ट ढंगसे ईश्वर या परमात्माकी महत्ता तंबूरेके मधुर स्वरके साथ आधी राततक ही नहीं, पर कई बार तो रातभर गाते हैं और उससे अन्य प्रकारसे प्राप्त न हो सके ऐसा एक तरहका अद्भुत सन्तोष प्राप्त करते हैं। रेडियो, सिनेमा और नाटककी विश्राम-भूमिवाले बड़े-बड़े शहरोंके इधर-उधरके कोनों व उपनगरोंमें आत्मा-परमात्माके चिन्तनकी कुछ झलक प्रदर्शित करनेवाले भजनोंकी धुन अपढ़ और स्थूलजीवी समझे जानेवाले लोगोंका सनातन आश्वासन रही है। हज़ारों नगरों और लाखों गाँवोंके उद्योगी व परिश्रमी जीवनको रोज़ नई-नई ताज़गी देनेवाले जो अनेक साधन हैं उनमें ईश्वर या आत्मा-परमात्माके भजन एवं स्मरणका एक ख़ास स्थान है। इससे ऐसा मान लेना भ्रान्त है कि दूसरे ज्वलन्त और तत्काल ध्यान खींचनेवाले प्रश्नोंके सामने रहते हुए आत्मा-परमात्मा-जैसे गूढ़ विषयोंकी चर्चा और विचारणा अप्रासंगिक तथा अनावश्यक है।

मनुष्यको स्वभावसे ही जिज्ञासा एवं उसे सन्तुष्ट करनेकी पुरुषार्थशक्ति इतनी अधिक और अपरिमित मात्रामें मिली है कि उसके सामने जब कोई नया विषय उपस्थित होता है तब, चाहे वह विषय कितना ही नया, सूक्ष्म अथवा गूढ़ क्यों न हो, वह अपने जीवन और सुख-सुविधाकी परवाह किये बिना उसकी खोज व गहरे अध्ययनके पीछे हाथ धोकर पड़ता है और अन्तमें अपनी सतत एवं अडिग धुनद्वारा सनातन मूल्यवाला कुछ न-कुछ नया चिन्तन अथवा संशोधन मानवजातिको दे जाता है। मनुष्यजातिने अबतक जो ज्ञान-थाती सुरक्षित रखी है वह इस बातकी गवाही देती है।

उपलब्ध प्राचीनतम साहित्यिक विरासतमें वेद एवं अवेस्ताके कुछ भागोंका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनमें हमें आध्यात्मिक जिज्ञासा और शोधके सूचक कई गम्भीर उद्गार मिलते हैं। उपनिषद्, जैन आगम व बौद्ध पिटकोंमें तो आध्यात्मिक जिज्ञासा-विषयक विचारणा ही मुख्य रूपसे देखी जाती है। यद्यपि उपनिषदों, आगमों तथा पिटकोंके प्राचीन भाग, जिनमें विविध प्रकारसे आध्यात्मिक जिज्ञासा व विचारणा हुई है, वेद और अवेस्ताके प्राचीन भागोंकी अपेक्षा अर्वाचीन समझे जाते हैं, फिर भी ऐसा समझ लेना भ्रान्त ही होगा कि इन उपनिषदों, आगमों व पिटकोंमें जो आध्यात्मिक चिन्तन है वह उन-उन ग्रन्थोंके जितना ही प्राचीन है। सच बात तो यह है कि इस अध्यात्म जिज्ञासा और विचारणाका स्रोत किसी सुदूरवर्ती भूतकालमेंसे बहता आया है और उपलब्ध होनेवाले उन-उन ग्रन्थोंमें किसी समय लिपिबद्ध होकर आजतक सुरक्षित रहा है। भारतभूमिकी गोदमें जन्म लेनेवालेको अपनी जनमघूँटीके साथ ही ऐसा कोई संस्कार मिलता है जिससे उसके मानसिक निर्माणमें आध्यात्मिक समझे जानेवाले विषयोंकी

जिज्ञासाके बीज अनायास ही बोये जाते हैं।[१] इस प्रकारके मानसिक निर्माणके पीछे हज़ारों वर्षोंकी प्राचीन आध्यात्मिक साधनाके इतिहासकी अज्ञात भूमिका रही हुई है। इसीलिए तो हममेंसे अनेक ज्यों-ज्यों इस प्रकारकी आध्यात्मिक जिज्ञासा और विचारणाको रोकनेका या उनका गला घोंटनेका प्रयत्न करते हैं त्यों-त्यों वे अधिकाधिक पुनः उन्हीं विषयोंकी ओर झुकते दिखाई देते हैं। इसलिए जब हम आत्मा-परमात्माकी विचारणा करनेके लिए प्रेरित होते हैं तब हम अपनी विशिष्ट प्रकृतिका ही अनुगमन करते हैं और अपनेमें रहे हुए निगूढ़ संस्कारोंके प्रति ही वफ़ादार रहते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

दूसरी तरहसे विचार करनेपर भी ज्ञात होगा कि प्रस्तुत विचारणा तनिक भी अप्रासंगिक या असामयिक नहीं है। यूरोप और अमेरिका-जैसे भौतिकवादी समझे जानेवाले देशोंमें भी आत्मतत्त्व, पुनर्जन्म आदि आध्यात्मिक विषयोंकी वैज्ञानिक ढंगसे नई नई खोजें प्रचुर मात्रामें होने लगी है, और वह यहाँतक कि अब तो किसी-किसी यूनिवर्सिटीने ऐसी खोजोंके लिए ख़ास विभाग और अभ्यासपीठोंका भी प्रबन्ध किया है और उन-उन विषयोंके विशेष अनुभवी अध्यापकोंको नियुक्त कर उनकी

---

१. To a Hindu the idea that the souls of men migrated after death into new bodies of living beings, of animals, nay, even of plants, is so self-evident that it was hardly ever questioned.

—Six Systems of Indian Philosophy
by Max Muller, p. 114

निगरानीमें उच्च संशोधनकार्य भी करवाती है[1]। इसलिए यदि हम अपनी प्राचीन आध्यात्मिक विरासतको आख़री न मानकर उसमें नये संशोधनोंद्वारा वृद्धि करके ऋषिऋण[2] अदा करना चाहें तो यह एक सपूतका ही कार्य समझा जायगा।

---

१. देखो—Mcdougall : Religion and the Sciences of the Life में प्रकाशित व्याख्यान Psychical Research As A Study, p. 64-81

२. ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋणके लिए देखो तैत्तिरीय संहिता ६. ३. १०. ५., तथा

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

—मनुस्मृति ६. ३५

आत्मतत्त्व

[१]

भारतीय धर्मोंकी ऐसी कोई भी परम्परा इस समय उपलब्ध नहीं है, जिसमें आत्मतत्त्वका एक या दूसरे नामसे स्वीकार न किया गया हो। आत्मवादी सभी दर्शनोंको समान रूपसे मान्य हो ऐसा आत्माका स्वरूप यह है कि प्रकृति अथवा परमाणु-जैसे जड़ एवं भौतिक तत्त्वमेंसे निष्पन्न नहीं होनेवाला, पर स्वभावसे ही मूलमें भिन्न ऐसा चेतनाशक्ति धारण करनेवाला तत्त्व ही आत्मतत्त्व है। यह स्वरूपविषयक मान्यता इस समय तो सभी भारतीय दर्शनोंमें सिद्ध-जैसी ही है, पर मान्यताकी यह भूमिका शुरूसे ही ऐसी रही है या उसमें क्रमशः विकास होते-होते यह भूमिका सिद्ध हुई है?—यह प्रश्न उपस्थित होता है। इससे मैं पहले इस बारेमें ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करके बादमें तात्त्विक दृष्टिसे विचार करना चाहता हूँ।

उपनिषद् आदि पीछेके ग्रन्थोंमें जैसी स्पष्ट आत्मचर्चा और विचारणा है वैसी कोई विचारणा वेदके प्राचीनतम सूक्तोंमें नहीं है। उसमें सत्-तत्त्व[1] अथवा ब्रह्मके सूचक जो मंत्र मिलते हैं वे बादके हैं ऐसा इतिहासके विद्वानोंका मानना है। इससे विपरीत, निरुक्त, भारतीय पण्डित और योगारूढ़ श्री अरविन्द[2] तक ऐसा

---

१. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

—ऋग्वेद १.१६४.४६, पुरुषसूक्त (ऋग्वेद) १०.९०.

२. The Secret of the Vedas.

मानते हैं कि वैदिक मंत्रोंमें आध्यात्मिक प्रतिपादन है और भौतिक अर्थके साथ ही आध्यात्मिक अर्थ भी जुड़ा हुआ है।

वेदके वे सूक्त प्राचीन हों या अर्वाचीन, पर उनके ऊपर उस-उस कालमें रचित तथा सूक्तके ऋषियोंके अभिप्रेत अर्थको ही प्रकाशित करनेवाली कोई व्याख्या यदि कभी लिखी गई हो तो वह आज उपलब्ध नहीं है। सायणके भाष्य बहुत ही अर्वाचीन हैं। सायणके ऊपर शांकर मतका जो प्रबल प्रभाव है उसीसे प्रेरित होकर उसने वेदके मंत्रोंका अर्थ करनेका कई जगह प्रयत्न किया है। इसी प्रकार जरथोस्त्रियन गाथाकी व्याख्याएँ भी गाथाकी रचनाके लगभग दो हज़ार वर्ष बादमें बननी शुरू हुईं। ये व्याख्याएँ जब ईरानमें लिखी गईं तब ईरानमें ईसाई धर्मका प्रभाव पड़ चुका था, अतः इन व्याख्याओंमें उस प्रभावकी छाया पड़ी है ऐसा डॉ० तारापोरवाला-जैसे संशोधक मानते हैं। चाहे जो कुछ हो, परन्तु इतना तो ज्ञात होता है कि उतने प्राचीन कालमें आत्माके स्वरूपके बारेमें कोई सुनिश्चित अथवा सुस्पष्ट ख़्याल यदि प्रचलित रहा भी हो तो भी वह उत्तरकालीन वाङ्मयकी भाँति उन प्राचीन वैदिक मंत्रोंमें स्पष्ट रूपसे निर्दिष्ट नहीं है।

और यह भी विचारणीय बात है कि उन प्राचीन वैदिक मंत्रोंके प्रणेता ऋषियोंका आत्मतत्त्वविषयक आध्यात्मिक दर्शन रहा भी हो तो भी आत्मतत्त्व और उसके साथ अनिवार्य रूपसे संकलित पुनर्जन्मका विचार करनेवाला वह दर्शन मूलमें ही उनका अपना है या उनके आगमनसे पूर्व इस देशमें रहनेवाली अथवा बाहरसे आकर बसनेवाली द्राविड़ आदि जातियोंके आत्मतत्त्व एवं पुनर्जन्म आदिके विचारोंसे उपकृत एवं प्रभावित है—इस विषयमें इतिहासज्ञोंमें अनेक मतभेद हैं। 'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'—यह उक्ति यहाँपर भी चरितार्थ होती है। प्रो० कीथने

अपने Religion and Philosophy of Vedas and Upanishads नामक ग्रन्थके दूसरे भागके परिशिष्ट G में ऐसे अनेक मतभेदोंके बारेमें ऊहापोह किया है और उनमेंसे किसी एकको अबाधित नहीं माना। इतने दूरके अँधेरे भूतकालमेंसे ऐसे प्रश्नोंके बारेमें सुनिश्चित एवं सर्वसम्मत सत्य छाँटकर निकालना किसीके लिए भी शक्य नहीं है। इन और ऐसे दूसरे कारणोंसे मैं यहाँपर उतने भूतकालकी गहराईमें न जाकर ऐसे समयसे ही चर्चाकी शुरुआत करूँगा जिसमें आत्मवादकी स्थापनाके स्पष्ट उल्लेख और वर्णन मिलते हों।

पाणिनिके सूत्र ईसवीपूर्व पाँचवी शतीसे अर्वाचीन नहीं हैं[1]। उनमें जो 'आस्तिक' व 'नास्तिक' शब्द[2] आते हैं और उनका जो परम्परागत पाणिनिविवक्षित अर्थ काशिकाकार वामन जयादित्यने किया है उसे देखते हुए इतना तो प्रतीत होता है कि उस समय आत्मवाद एवं पुनर्जन्म या परलोककी बात बिलकुल रूढ़ और प्रतिष्ठित हो चुकी थी[3], और जो ऐसी मान्यतामें विश्वास न रखते हों वे नास्तिक कहलाते थे। आगे चलकर 'नास्तिक' पद तो ऐसा प्रचलित हो गया कि अपनी अत्यन्त श्रद्धेय एवं मान्य वस्तु या दृष्टिमें जो श्रद्धा न रखता हो अथवा उसका विरोध करता हो वह भी नास्तिक समझा और कहा जाने

१. India As Known to Panini, P. 475

२. अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः।

—पाणिनि अष्टाध्यायी ४. ४. ६०

३. न च मतिसत्तामात्रे प्रत्यय इष्यते। कस्तर्हि? परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः।

—काशिकावृत्ति ४. ४. ६०

लगा। इसीलिए मनुने 'नास्तिको वेदनिन्दकः'[१] ऐसा कहा है। इसी तरह वेदको माननेपर भी यदि ईश्वरवादी न हो तो वह भी व्यवहारमें नास्तिक समझा जाता है। परंतु यहाँपर तो देखना यह है कि मूलमें आस्तिक और नास्तिक पद किस अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। यह विचार हमें इतना तो माननेको बाधित करता है कि वैदिक परम्परा और संस्कृत भाषाकी अनन्य प्रतिष्ठा स्थापित करनेवाला पाणिनि नास्तिक पदसे एक ऐसा पक्ष उपस्थित करता है जो वैदिक मान्यतासे विरुद्ध मान्यता रखता हो और जिसकी जड़ कुछ अधिक गहरी हो। शब्दव्युत्पादक पाणिनिके इस सूत्रसे नीचेकी दो बातें निर्विवादरूपसे फलित होती हैं—(१) तत्कालीन जनसमाज अथवा विद्वत्समाजमें जो 'आस्तिक' और 'नास्तिक' शब्द उपर्युक्त अर्थमें प्रचलित थे उन्हें संस्कृत भाषामें साधु शब्दके तौरपर स्थान देना; और (२) आत्मवादी एवं अनात्मवादी दोनों प्रकारकी विचारसरणी रखनेवाले लोग पाणिनिके समयमें कमोबेश मात्रामें विद्यमान थे और वे अपनी विचारसरणीका प्रचार भी करते थे।

अब हम यह देखें कि आत्मा और पुनर्जन्मको न माननेवाले पक्षोंके बारेमें अन्यत्र कहीं पाणिनिके समय जितने पुराने साहित्यमें चर्चा हुई है या नहीं? बौद्ध पिटकोंमें[२] ऐसे आचार्योंका निर्देश मिलता है जो भूतसंघातके अतिरिक्त मरणके बाद क़ायम रहे ऐसा कोई तत्त्व नहीं मानते थे और फिर भी अपने

---

१. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

— मनुस्मृति २. ११

२. दीघनिकायगत ब्रह्मजालसुत्त तथा *पायासीसुत्त*।

विशिष्ट पंथ चलाते थे। जैन आगमोंमें[1] भी ऐसे भूतसंघात-वादियोंका उल्लेख है। महाभारतमें[2] आया हुआ ऐसा वर्णन कितना पुराना है यह नहीं कहा जा सकता, फिर भी छान्दोग्य[3] जैसे प्राचीन औपनिषद्भागमें वर्णित इन्द्र-विरोचनकी आख्या-यिकामें विरोचनकी मान्यताके रूपमें देहात्मवादका सूचन है ही।

कपिल, पार्श्वनाथ, बुद्ध, महावीर, याज्ञवल्क्य-जैसे मोक्षवादी साधकोंकी साधना-भूमिका आत्मवादपर ही प्रतिष्ठित थी। अतएव इन साधकोंकी तपश्चर्या, विचारणा एवं जीवनसरणीका ऐसा गहरा प्रभाव लोगोंपर पड़ा और वह फैलता भी गया कि उसकी वजहसे धीरे-धीरे भूतसंघातवाद या देहात्मवाद गौण एवं अप्रतिष्ठित होता गया। मोक्षवादी दर्शनोंके पुरस्कर्ता प्रत्येक सूत्रकारने अपनी-अपनी कृतिमें पूर्वपक्षके[4] तौरपर भूतसंघात-वाद अथवा देहात्मवादका निर्देश करके उसका संक्षिप्त या विस्तृत खण्डन किया ही है। उन सूत्रकारोंके समयमें उनके समक्ष ऐसे भूतसंघातवादी धर्मपंथ जीवित थे या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता, पर उन सब सूत्रकारोंकी एकसी भूतसंघातवादकी खण्डन-

---

१. सूत्रकृतांग १. १. ७–८, और रायपसेणीयसुत्त।

२. नाऽयं लोकोऽस्ति न पर इति व्यवसितो जनः।
नाऽलं गन्तुमिहाश्वासं नास्तिक्यभयशंकितैः॥

—महाभारत, शान्तिपर्वः आपद्धर्मपर्व ३. १४

(मद्रास संस्करण, १९३६)

Hopkins : The Great Epic of India, p. 86–90

३. छान्दोग्योपनिषद् ८. ८ तथा गणधरवादकी प्रस्तावना पृ. ७४

४. न्यायसूत्र ३.१.१–२७; वैशेषिकदर्शन ३.१.२, ८.१.२.; प्रशस्त-पादभाष्यगत आत्मप्रकरण।

शैली और आत्मवादकी स्थापनाशैली इतना तो सूचित करती है कि वे सब लोगोंमें रहा-सहा अनात्मवादका संस्कार या विचार निर्मूल करनेके लिए प्रयत्नशील थे, और ऐसा लगता है कि उनका प्रयत्न सफल भी हुआ। इसीलिए हम देखते हैं कि अनात्मवाद अथवा भूतसंघातवादका जो बार्हस्पत्य, पौरन्दर या चार्वाकके नामसे प्रचलित साहित्य था वह कहीं भी सुरक्षित न रहा और नामशेष हो गया। इस समय अनात्मवादके पूर्ण एवं विस्तृत मन्तव्य जाननेके लिए हमारे पास उसका कोई मौलिक व अखण्ड साहित्य नहीं है, क्योंकि ऐसे साहित्यको सुरक्षित रखनेवाले और उसका विकास करनेवाले जो धर्मपन्थ थे वे ही लुप्त हो गये।[1]

आत्मवादके विरुद्ध अनात्मवादको माननेवाले लोगोंके विविध मन्तव्य मिलते हैं। उनमेंसे कोई पांचभौतिक देहको ही आत्मा मानता तो कोई इन्द्रियको आत्मा मानता, कोई मनको तो कोई प्राणको। ये सब अनात्मवादकी भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ हैं;[2] पर

---

१. चार्वाकपरम्पराके ही विशेष विकासको दिखानेवाला एक ग्रन्थ अभी कुछ वर्ष पूर्व मिला है। यह तत्त्वोपप्लवसिंहके नामसे प्रसिद्ध है। इसके कर्त्ताका नाम जयराशि भट्ट है। लगभग ८वीं शतीमें निर्मित इस ग्रन्थमें सभी तत्त्वोंके उच्छेदकी स्थापना की गई है। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरिएन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ोदासे प्रकाशित हुआ है।

२. प्रश्न एवं तैत्तिरीय (ब्रह्मानन्दवल्ली) आदि उपनिषदोंमें ऐसी भूमिकाओंका निर्देश मिलता है। स्वतंत्र आत्मतत्त्वका मन्तव्य स्थिर होनेसे पहले लोगोंमें प्रचलित देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद तथा प्राणात्मवाद आदि भूमिकाओंका एक अथवा दूसरी तरहसे उनमें संकलन करके कहा गया कि देह, इन्द्रिय, प्राण आदि जो तत्त्व हैं वे भी आखिकार आत्माके

इन सब भूमिकाओंके पीछे रहा हुआ समान तत्त्व इतना ही है कि चेतना और ज्ञानशक्ति चार या पाँच भूतोंके विलक्षण संयोग-मात्रसे सर्वथा नवीन ही पैदा होती है और वह जन्मसे लेकर मरणपर्यंत कार्य करती है, परन्तु मृत्युके पश्चात् शेष नहीं रहती। सभी आत्मवादी दर्शनोंकी सामान्य भूमिका यह है कि पांच-भौतिक देहके जन्मसे पूर्व ही सदा विद्यमान रहनेवाला ऐसा कोई तत्त्व है जिससे सम्बन्ध होनेपर ही वह देह सचेतन बनती है और देहका अवसान होनेपर भी वह तत्त्व सर्वदाके लिए कायम रहता है। आत्मवादकी मान्यताविषयक यह सामान्य भूमिका धीरे-धीरे किस तरह तैयार होती गई, इसपर अब हम विचार करें।

प्राण, भूत, जीव, सत्त्व, पुद्गल, चित्त, पुरुष, ब्रह्म, आत्मा और चेतन जैसे शब्द जीवनधारी आत्मतत्त्वके लिए अलग-अलग प्रयुक्त हुए हैं। आज जिस 'प्राण' शब्दका अर्थ केवल श्वासोच्छ्वास होता है वह प्राण शब्द किसी समय श्वासोच्छ्वास लेनेवाले और साथ ही साथ पुनर्जन्म धारण करनेवाले आत्माके लिए प्रयुक्त होता था। इसी तरह जिस 'भूत' शब्दका आज पृथ्वी आदि पाँच भूत ऐसा अर्थ लिया जाता है वह भूत शब्द भी भौतिक देहधारी जीवित पर पुनर्जन्म लेनेवाले चेतनके लिए प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार सत्त्व गुणमें तथा सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि-तत्त्वमें प्रचलित 'सत्त्व' शब्दका प्रयोग पुनर्जन्म प्राप्त करनेवाले जीवके लिए होता था।[1]

कारण ही प्रकाशमान एवं कार्यकर हैं। न्यायसूत्र (३.१.१-२७) में आत्मवादकी स्थापना करते समय देह, इन्द्रिय, मन आदिको आत्मा माननेवाले पक्षोंका निरास किया गया है।

१. सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हन्तव्वा।

—आचारांगसूत्र १.४.१.१

अनात्मवादी लोग सजीव प्राणीमात्रमें विलसित जीवन एवं चैतन्यका इनकार करते हों ऐसी बात तो नहीं है, पर उनकी जीवन व चैतन्यविषयक उपपत्ति यह है कि पृथ्वी आदि चार भौतिक एवं सूक्ष्मतम अणुओंका संघात जब देहरूपमें परिणत होता है तभी उनके विलक्षण संयोगके कारण जीवनतत्त्व देह-में दिखाई देता है और कार्यकर बनता है, और जब वैसा विल-क्षण संयोग नष्ट होता है तब उस जीवन या चैतन्यका भी स्वतः प्रलय हो जाता है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि इस विचारसरणीके विरुद्ध जो आत्मवादी पक्ष थे उनमें दो अधिक प्राचीन हैं—पहला पक्ष प्रकृतिजन्य जीववादी है और दूसरा स्वतःसिद्ध जीववादी है। इन दोनों पक्षोंकी मान्यताएँ संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

प्रथम पक्ष[2]—रजस्, तमस् और सत्त्व इन तीन अंशों या गुणोंवाला एक स्वतःसिद्ध प्रधान तत्त्व है, जिसे प्रकृति भी कहते हैं। इन तीन गुणोंके विविध तारतम्य या वैषम्यकी वजहसे

इसके साथ तुलना करो—

सब्बे सत्ता अवेरा अव्यापज्झा अनीघा सुखी अत्तानं परिहरन्तु। सब्बे पाणा···सब्बे भूता····सब्बे पुग्गला···परिहरन्तु ति।

—पटिसंभिदा २,१३० तथा विसुद्धिमग्ग ६.६

१. देखो सर्वदर्शनसंग्रहमें चार्वाकदर्शन और Six Systems of Indian Philosophy by Max Muller, p. 94–104

२. इसके लिए चरकसंहितागत शारीरस्थान प्रथम अध्याय—कतिधापुरुषीय प्रकरण देखना चाहिये। उसमें जो राशिपुरुषका वर्णन है वह २४ तत्त्वोंवाला सांख्य मन्तव्य है। महाभारतमें भी २४ तत्त्व माननेवाली सांख्यपरम्पराका उल्लेख है।

प्रधान तत्त्व सर्जन-व्यापार करता है। जब रजस् और तमस्की मात्राकी अपेक्षा सत्त्वकी मात्रा विशिष्ट होती है तब सत्त्वप्रकर्ष-वाला एक कार्य आविर्भूत होता है। इसे सत्त्वकी प्रधानताके कारण सत्त्व भी कहा जाता है और सुख-दुःख आदिका अनुभव करनेकी जीवनशक्ति धारण करनेके कारण यह जीव भी कहा जाता है। इस सत्त्व अथवा जीवमें धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य जैसे भाव होते हैं और यह धर्म-अधर्मके अनुसार उच्चावच जन्म धारण करता है, अर्थात् एक स्थूल देह छोड़कर दूसरी स्थूल देह धारण करता है। स्थूल देहके विनाशके साथ ही उस सत्त्वका विनाश नहीं होता और इसी-लिए वह पुनर्जन्मवान् आत्मा कहा जाता है। जब सत्त्वकी मात्रा कम और अभिभूत होती है तथा रजस् एवं तमस् गुणोंकी मात्रा मुख्य रूपसे कार्य करती है तब उस प्रधान नामक मूल तत्त्वमेंसे जो सर्जन होते हैं वे ज्ञान, सुख जैसे भावोंसे रहित होते हैं और इसीलिए जड़ या अजीव कोटिके समझे जाते हैं। ऐसे जड़ तत्त्व जीवतत्त्वके जीवनमें साधक या बाधक बनते हैं। समग्र विश्व मूलमें तो प्रधानसे ही ओतप्रोत है, पर इस प्रधानके जीव एवं अजीव रूप दो सर्जनप्रवाह बहते और कार्य करते हुए दिखाई देते हैं।

द्वितीय पक्ष—इस पक्षमें जीव और अजीव ये दोनों तत्त्व मूलमेंसे ही भिन्न माने गये हैं। इन दोनोंका किसी एक मूल कारणमेंसे उत्पाद या आविर्भाव नहीं होता। जिस प्रकार परमाणु आदि अजीव तत्त्व स्वतःसिद्ध एवं अनादि हैं उसी प्रकार जीव-तत्त्व भी स्वतःसिद्ध और अनादि है। यह पक्ष भी प्रथम पक्षकी भाँति जीवमें धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख आदि भावोंकी उत्पत्ति मानता है और यह स्वीकार करता है कि

यह जीव पुण्य-पापके अनुसार पुनर्जन्मके चक्रका अनुभव करता है। यही जीव आत्मा कहलाता है। अजीवतत्त्व उसके ऐसे अनुभवमें साधक या बाधक बनता है।

उपर्युक्त दोनों पक्षोंके बीच प्रस्तुतमें ध्यान देने जैसा मुख्य भेद यह है कि प्रथम पक्ष जीव और अजीव इन दोनों व्यवहार-गम्य तत्त्वोंको माननेपर भी मूलमें प्रधानाद्वैतवादी है, जब कि द्वितीय पक्ष मूलतः ही जीव-अजीव तत्त्वोंको भिन्न एवं स्वतः-सिद्ध माननेके कारण द्वैतवादी है। दोनों पक्षोंके बीच प्रस्तुतमें ध्यान देने जैसी समानता इस प्रकार है—दोनों पुनर्जन्म और उसके कारणरूपसे धर्म-अधर्म अथवा पुण्य-पापको मानते हैं, दोनों जीवतत्त्वमें सुख-दुःखका अनुभव करनेकी चेतनाशक्ति स्वीकार करते हैं और जीवतत्त्वमें पुरुषार्थ करनेकी शक्ति या सामर्थ्य भी मान्य करते हैं। दोनोंके मतसे जीवतत्त्वका क़द स्थूल देह जितना होता है, अर्थात् जब स्थूल देह बड़ी होती है तब उसमें विद्यमान जीवतत्त्वका कद बड़ा होता है और जब वह देह छोटी या अति सूक्ष्म होती है तब जीवतत्त्वका क़द उसके जितना होता है। सारांश यह है कि दोनों पक्षोंकी दृष्टिसे जीव-तत्त्व संकोचविस्तारशील है और देह-भेदसे जीव-भेद माननेके कारण दोनों पक्ष नाना-आत्मवादी हैं। प्रथम तत्त्वाद्वैतविचारसरणी सांख्यपरम्पराका मूल है, जब कि दूसरी तत्त्वद्वैतविचारसरणी जैन परम्पराका मूल है।

दोनों पक्ष अनात्मवादके विरुद्ध पुनर्जन्मकी प्रक्रिया और उसके कारणके तौरपर पुण्य-पापकी शृंखला स्वीकार करते हैं, फिर भी वे पहले ही से मोक्षपुरुषार्थ मानते थे ऐसा निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। अधिक सम्भव तो ऐसा है कि वे अपने विचा-रोंकी प्रारम्भिक दशामें पुनर्जन्म और उसके परिणामस्वरूप

अच्छे-बुरे लोक-लोकान्तरवादसे आगे न बढ़े हों। आगे जाकर जब मोक्षपुरुषार्थका स्वीकार हुआ तब उसे ख्यालमें रखकर दोनों पक्षोंने अपनी-अपनी मान्यताका ढाँचा कायम रखके उसमें मोक्षके साथ संगत हों ऐसे साधनागामी विचार एवं तत्त्व बढ़ाये-घटाये हों।

यहाँपर इतना ध्यान रखने-जैसा है कि प्राचीन उपनिषदोंमें आत्मतत्त्वसे सम्बद्ध जो-जो विचारणाएँ संगृहीत हैं उनके सिवाय भी आत्मतत्त्वसम्बन्धी दूसरी विचारणाएँ लोगोंमें प्रचलित थीं जो निर्ग्रन्थ परम्पराके प्राचीनतम ग्रन्थांशोंमें उल्लिखित हैं।[१]

तत्त्वाद्वैतविचारसरणी जिस एक मौलिक तत्त्वको मानकर आगे चलती थी वह तत्त्व ऐसा माना गया था कि जिसमेंसे जड़-सृष्टि एवं चेतनसृष्टि दोनोंका उद्भव सम्भव हो और उसकी उपपत्ति भी हो सके। व्यवहारमें सर्वानुभवसिद्ध ऐसे जड़ एवं चेतनके भेदको यह विचारसरणी मूलभूत एक ही तत्त्वमेंसे घटाती थी। अतएव उस मूलभूत एक तत्त्वको जड़ अर्थात् अचेतन ही कहना अथवा चेतन ही कहना शक्य नहीं था। उस तत्त्वमें जड़ और चेतन दोनों प्रकारके सर्जनोंकी शक्ति थी। इसीलिए कभी तो 'चेतना' शब्दसे और कभी 'प्रकृति' शब्दसे उसका उल्लेख एवं व्यवहार हुआ है। वह मूलतत्त्व प्राचीन व्यवहारके अनुसार ब्रह्म,

---

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रथम पद, भगवतीसूत्र (२५. ६), जीवाजीवाभिगम आदि आगमोंमें 'निगोय' (निगोद) नामसे एक जीवराशिका वर्णन आता है। ऐसा प्रतीत होता है, यह मान्यता बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है। इसीके आधारपर जैनपरम्पराके जीववादका सम्बन्ध 'एनिमिज़्म'के साथ पाश्चात्य विद्वान् जोड़ते हैं। निगोद अर्थात् एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म साधारण शरीरमें अनन्तानन्त जीवोंका स्वतंत्र अस्तित्व।

अव्यक्त, प्रधान अथवा प्रकृति है।[1] दूसरी विचारसरणी पहले ही से ऐसा मानती आई है कि कोई एक ही तत्त्व जड़ और चेतन उभयरूप नहीं हो सकता। इससे वह प्रारंभसे ही जड़ और चेतन ऐसे दो परस्पर अत्यन्त भिन्न तत्त्वोंको मानकर चलती थी।

चरकमें उल्लिखित अग्निवेशके प्रश्नोंके उत्तरमें पुनर्वसुने आत्मतत्त्वका जो निरूपण किया है[2] वह स्वयं पुनर्वसुका नहीं है, पर पहलेसे चले आनेवाले आत्मज्ञ लोगोंके एक मन्तव्यके तौरपर ही उसने उसका निर्देश किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि चरकमें उल्लिखित तत्त्वाद्वैतकी विचारसरणी पहले ही से चलती आ रही थी। छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंके प्राचीन भागोंमें हम देखते हैं कि वहाँ भी ऐसी तत्त्वाद्वैतकी विचारसरणी मौजूद है। कहींपर सत्‌को मूलतत्त्व मानकर उसमेंसे जड़-चेतनरूप नाना सृष्टिका विकास वर्णित है, कहींपर असत्‌को मौलिक मानकर उसका विकास दरसाया गया है[3] तो कहींपर आत्मा शब्दसे मूलतत्त्वका उल्लेख करके उसका विकास दिखलाया गया है। उपसंहारमें उस सत् तत्त्वको ही ब्रह्म अथवा आत्मा कहा गया है।[4] इसपरसे ज्ञात होता है कि छान्दोग्य, बृहदारण्यक

---

१. चरकसंहितागत शारीरस्थान, कतिधापुरुषीय अ. १, श्लो. १७, ६१, १५६

२. इत्यग्निवेशस्य वचः श्रुत्वा मतिमतां वरः ।
सर्वं यथावत् प्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्वसुः ॥

—चरकसंहिता, शारीरस्थान, अ. १, श्लो. १५

३. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। —छान्दोग्योपनिषद् ६.२.१

आत्मैवेदमग्र आसीत्। —बृहदारण्यक० १.४.१; ऐतरेय १.१.१

४. ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो।

—छान्दोग्योपनिषद् ६.८.७.

आदिके प्राचीन भागोंमें उल्लिखित विचारधाराओंमें किसी एक मूलतत्त्वको मानकर उसमेंसे जड़-चेतनके भेदवाली सृष्टिकी उपपत्ति की जाती थी। यदि मूलमें तत्त्व एक ही हो और उसीमेंसे दोनों चेतन-अचेतनकी भिन्न-भिन्न सृष्टि घटानी हो तो उस मूल कारणमें सृष्टियोंके अनुरूप ऐसा कोई सामर्थ्य तो मानना ही चाहिये। और हम देखते हैं कि इस तरहसे उसकी कल्पना भी की गई है और वह माना भी गया है।

उपनिषदोंमें 'तदैक्षत'[1] इत्यादि शब्दोंके द्वारा वह सामर्थ्य सूचित किया गया है और ब्रह्मसूत्रमें उसीका 'ईक्षतेः'[2] सूत्रमें निर्देश है। 'ईक्षण'से क्या अभिप्रेत है?—इस प्रश्नका उत्तर 'संकल्प' दिया गया है। मूल एक तत्त्वमें ऐसी संकल्पशक्ति है जिसके कारण वह बहु अर्थात् नाना बनता है। एक मूलतत्त्वमेंसे बहुत्व अथवा नानात्वकी उपपत्ति भी किसी एक ही तरहसे नहीं की जाती थी। कोई चिन्तक एक तरहसे तो कोई दूसरी तरहसे ऐसी उपपत्ति करता, पर इतना तो स्पष्ट है कि ऐसी उपपत्तिके मूलमें परिणामवाद था। तत्त्व मूलमें तो एक है, पर वह संकल्पबलसे अनेक रूपमें परिणत होता है अर्थात् अनेक रूपमें बनता है—ऐसा माना जाता था। इसके समर्थनमें 'आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्',[3] 'एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातम्'[4] इत्यादिका निर्देश किया जा सकता है।

---

१. तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।

—छान्दोग्य० ६.२.३; ऐतरेय १.१.१

२. ब्रह्मसूत्र १.१.५.

३. बृहदारण्यक० ४.५.६.

४. यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥ यथा सौम्यैकेन लोहमणिना सर्वं

जिस तरह तत्त्वाद्वैतविचारसरणी परिणामवाद मान करके ही जड़-चेतन सृष्टिका भेद एवं पुनर्जन्म आदि घटाती थी, उसी तरह तत्त्वद्वैतविचारसरणी भी यह सब घटाते समय दोनों मूल-तत्त्वोंमें परिणामवाद मानती थी। अतः तत्त्वचिन्तनकी इस भूमिकामें दोनों विचारसरणियोंको परिणामवाद एक-सा अभि-प्रेत था।

जड़-चेतन सृष्टिका भेद और पुनर्जन्म तथा उससे सम्बद्ध कर्मतत्त्व आदिकी बातें तत्त्वचिन्तनमें यद्यपि स्थिर हो गई थीं, फिर भी दोनों विचारसरणियोंके बीच ऐसा संघर्ष भी चलता था कि कौनसी विचारसरणी दूसरीकी अपेक्षा सोपपत्तिक एवं सबल है ? इस संघर्षमें तत्त्वद्वैतवादियोंका तत्त्वाद्वैतवादियोंके ऊपर आक्षेप यह था कि तुम पुनर्जन्म आदि सब कुछ मानते हो और परिणामवाद स्वीकार करके उसकी उपपत्ति भी करते हो, पर आखिरकार तुममें और भूतचैतन्यवादियोंमें क्या फर्क है ? भूत-चैतन्यवादी, जो पुनर्जन्म आदिको नहीं मानते, चातुर्भौतिक अणुओंके विलक्षण संघातसे चैतन्यकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं; जब कि तुम चातुर्भौतिक अणुओंके बदले एक परिणामी मूलभूत तत्त्व स्वीकार करके उसमेंसे चैतन्यकी उत्पत्ति या आविर्भाव मानते हो। अतएव यदि वे जड़चैतन्यवादी कहलाते हैं तो तुम भी एक तरहसे जड़चैतन्यवादी ही हो। वे जिस प्रकार जड़ भूतोंमें चैतन्यकी उत्पादक शक्ति मानते हैं, उसी तरह तुम भी मूल एक ही तत्त्वमें चैतन्यकी उत्पादक या व्यंजक शक्तिकी कल्पना करते

लोहमयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ यथा सौम्यैकेन नखकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवं सौम्य स आदेशो भवतीति ॥

—छान्दोग्य० ६.१.४-६

हो; इसलिए वस्तुतः तुम दोनों भूतचैतन्यवादी ही हो। वे पुनर्जन्म माने बिना ही अपने चैतन्यवादकी स्थापना करते हैं और तुम पुनर्जन्मको मानकर चैतन्यवादकी प्रतिष्ठा करते हो; इतना ही तुम दोनोंके बीच अन्तर है।

ऐसा लगता है कि इस तरहके किसी विचारसंघर्षके[1] परिणामस्वरूप तत्त्वाद्वैतविचारसरणीकी भूमिकाने, जो सांख्यपरम्पराका प्राचीन स्वरूप है, अपना रुख बदला और उसने तत्त्वाद्वैतके स्थानपर तत्त्वद्वैत स्वीकार किया। पहले तत्त्वाद्वैतकी मान्यताके समय जो अव्यक्त, चेतना, आत्मा और पुरुष जैसे शब्द एक ही अर्थमें पर्यायरूपसे प्रयुक्त होते थे, वे अब तत्त्वद्वैतकी मान्यताके समय सर्वथा भिन्न-भिन्न अर्थमें प्रयुक्त होने लगे। इस भूमिकामें एक तत्त्व सर्वथा जड़रूप माना गया तो दूसरा तत्त्व सर्वथा चेतनरूप। जड़ तत्त्वमें चेतनाशक्तिका अभाव और चेतनमें जड़शक्तिका अभाव है—इस प्रकारकी सुनिश्चित मान्यताका निर्माण हुआ। सांख्यपरम्पराकी यह दूसरी भूमिका थी।[2] इस भूमिकामें जड़रूप मूल तत्त्व अव्यक्त, प्रकृति अथवा प्रधान जैसे नामोंसे

---

१. राशिपुरुषवादी सांख्यको सामने रखकर उसकी सीधी समालोचना किसीने की हो तो वह हमारे देखनेमें नहीं आई; पर नैयायिक, वेदान्ती व जैन आदिने ऐसा स्थापन तो किया ही है कि परिणामी बुद्धिसत्त्वमें ज्ञान-सुख-दुःख आदि संभव नहीं हैं, वे तो चेतन आत्मामें ही शक्य हैं। ऐसा कहते समय उनका आशय तो यही है कि स्वतंत्र चेतन न मानकर केवल प्रकृतिके धर्मरूपसे ज्ञान-सुख-दुःख आदिकी उपपत्ति नहीं हो सकती। अतएव पचीस तत्त्ववादी सांख्यको लेकर जो खण्डन किया गया है वह राशिपुरुष अर्थात् चौबीस तत्त्ववादी सांख्यपर और भी अच्छी तरह लागू होता है।

२. यह भूमिका ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका आदिमें वर्णित है।

व्यवहृत हुआ; और चेतनतत्त्व क्षेत्रज्ञ, आत्मा, चेतन, पुरुष जैसे नामोंसे कहा जाने लगा। इसके अतिरिक्त, सांख्यविचारकी इस भूमिकामें एक दूसरा मान्यताभेद भी रूढ़ हुआ। वह यह कि जड़तत्त्व तो पूर्वकी भाँति परिणामी ही माना गया; पर परिणामी, अव्यक्त, प्रधान या प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र माना जानेवाला चेतनतत्त्व तो कूटस्थ—अपरिणामी ही समझा जाने लगा। तत्त्वद्वैतविचारसरणी पहले ही से जीव-अजीव दोनों स्वतंत्र तत्त्वोंको परिणामी मानती थी, जब कि सांख्यपरम्पराकी यह दूसरी द्वैतवादी भूमिका एक जड़तत्त्वको परिणामी तथा दूसरे चेतन तत्त्वको अपरिणामी मानने लगी। ऐसा क्यों हुआ, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वाद्वैतकी भूमिकामेंसे तत्त्वद्वैतकी भूमिकामें जब सांख्यविचारकोंने प्रवेश किया तब उन्होंने ऐसा सोचा होगा कि यदि जड़से चेतनको सर्वथा भिन्न एवं स्वतंत्र मानें तो उसे जड़की अपेक्षा उच्च कोटिका ही मानना उचित है। दोनों परिणामी ही रहें तो फिर उनमें आपसमें विशेषता क्या रही? परिणामी होनेकी वजहसे प्रत्येक तत्त्व सतत एवं स्वयमेव परिणत तो होता ही रहता है और साथ ही साथ दूसरे विरोधी तत्त्वके प्रभावसे भी प्रभावित होता रहता है।[1] ऐसी स्थितिमें जड़ यदि चेतन तत्त्वके प्रभावसे प्रभावित हो तो चेतन तत्त्व भी जड़के प्रभावसे प्रभावित क्यों न हो? और यदि उन दोनों तत्त्वों-पर एक दूसरेका असर पड़े तो फिर तत्त्वतः उन दोनोंमें फ़र्क क्या रहा? एक तत्त्व मानकर उसमें जड़ एवं चेतन दोनों सृष्टि-योंकी शक्ति मानना और ऐसी दोनों सृष्टियोंकी शक्तिसे समन्वित

१. जीव और अजीव परस्पर प्रभावित होते हैं—यह भूमिका जैन-परम्परामें स्पष्ट रूपसे सुरक्षित है।

भिन्न-भिन्न दो तत्त्व मानना—इन दोनों विचारोंमें कुछ अधिक फ़र्क नहीं है। अतएव यदि दोनों तत्त्व स्वतंत्र ही मानने हों तो एकको परिणामी और दूसरेको अपरिणामी मानना ही युक्तियुक्त है। ऐसे किसी विचारके कारण ही सांख्यपरम्पराकी द्वैतवादी भूमिकाने पुरुष अथवा चैतन्यको अपरिणामी माना।

इस समय आत्मवादी सभी भारतीय दर्शनोंमें मोक्षपुरुषार्थका अस्तित्व निर्विवाद रूपसे माना जाता है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुरुषार्थकी मान्यता तत्त्वचिन्तन और साधनाकी अमुक भूमिकाके समय ही दाखिल हुई होगी। अनात्मवादके विरोधमें आत्मवाद जब अस्तित्वमें आया तब वह अपने साथ पुनर्जन्मकी कल्पना भी लाया, पर मोक्षपुरुषार्थकी कल्पना पुनर्जन्मकी स्पष्ट कल्पना रूढ़ होनेके पश्चात् किसी समय अस्तित्वमें आई होगी, ऐसा प्रतीत होता है। पुण्य अथवा सुकृत करनेसे दिव्य या उच्च लोक (योनि) में जन्म मिलता है तथा पाप अथवा दुष्कृत करनेसे नरक या तुच्छ लोकमें जन्म लेना पड़ता है—ऐसी मान्यता पुनर्जन्मकी कल्पनामें थी ही, और इसी मान्यताके ऊपर सामाजिक तथा धार्मिक जीवनका निर्माण हुआ था। इससे कोई भी दीर्घ दृष्टिवाला व्यक्ति सामाजिक एवं धार्मिक जीवन इस तरह जीना पसन्द करता जिससे वह सुकृत उपार्जन करे और मरणोत्तर उच्च योनिमें जन्म ले सके। जो इस तरह जीता वही धार्मिक समझा जाता था और उसीकी विशेष प्रतिष्ठा भी होती थी। जो दीर्घ व कठिन तप करे, जो नाना प्रकारसे त्याग करे, दान दे, यज्ञ-पूजा आदि करे वह स्वर्गमें अपने सुकृतके अनुसार दीर्घ एवं उच्च कोटिका सुख पाता है—ऐसी मान्यता समाजमें स्थिर हो चुकी थी और यही मान्यता लोगोंके उच्च चारित्र्यकी प्रेरक भी बनती थी। इस

भूमिकामें स्वर्गप्राप्ति ही जीवनका चरम लक्ष्य था और इसी लक्ष्यकी सिद्धिकी दृष्टिसे समग्र धार्मिक एवं सामाजिक व्यवहार सुग्रथित हुए थे। इस स्थितिमें सहसा परिवर्तन हुआ। किसी तत्त्वचिन्तक और साधकको किसी विरल क्षणमें ऐसा भान हुआ कि स्वर्गप्राप्ति जीवनका चरम लक्ष्य माना जाता है, पर यह यथार्थ नहीं है। अधिकसे अधिक पुण्य या सुकृत करनेके फलस्वरूप उच्चतम स्वर्गीय जीवन और सुख प्राप्त हो सकता है, परन्तु अन्ततः तो वह पुण्यपर ही अवलम्बित है और इसीलिए पुण्यकी पूँजी समाप्त होने पर वह ख़त्म होगा ही। परिणामस्वरूप उस जीवनमेंसे च्युत होकर फिरसे पुनर्जन्मके चक्रमें घूमना पड़ेगा। चाहे जितना दीर्घकालीन और उच्च कोटिका सुख भी यदि आख़िरकार छोड़ना ही पड़े तो उसका शाश्वत मूल्य क्या ?[1] ऐसे बड़े भारी सुखके पश्चात् भी यदि दुःखके गड्ढेमें गिरना ही पड़े तो वैसा सुख जीवनका चरम और परम आदर्श

---

१. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।
हेयं दुःखमनागतम्।

—योगसूत्र २.१५–१६

बाधनालक्षणं दुःखम्।

—न्यायसूत्र १.१.२१

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः।
न सुखस्याऽन्तरालनिष्पत्तेः।
बाधानिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः।
दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च।

—न्यायसूत्र ४.१.५५-५८ तथा इन सूत्रोंपरके भाष्य, वार्तिक एवं तात्पर्यटीका।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। —गीता ९.२१

नहीं हो सकता। परम आदर्श तो वही हो सकता है जो प्राप्त होनेके बाद शाश्वत टिके—जिसमेंसे पुनः कभी च्युत न होना पड़े। इस विचारमेंसे मोक्षकी कल्पनाका उदय हुआ और ऐसा माना गया कि जीवनका चरम और परम साध्य स्वर्ग नहीं, किन्तु मोक्ष है और मोक्ष तो पुण्यका सीधा फल नहीं है। पुण्य एवं पाप ये दोनों तो पुनर्जन्मकी गति-आगतिके दो चक्र हैं। इस बन्धनसे छूटना ही मोक्ष है और यही जीवनका अन्तिम आदर्श है। मोक्षकी ऐसी कल्पनाके साथ ही उसे सिद्ध करनेके मार्ग भी नये सिरेसे सोचे गये और उनकी आयोजना भी हुई। ऐसा कहना चाहिये कि साधना अधिक अन्तर्दृष्टिकी ओर उन्मुख हुई। जो आचार, व्यवहार एवं अनुष्ठान जिस-जिस धर्मपंथ और समाजमें प्रचलित थे वे सब उस-उस धर्मपंथ व समाजमें प्रचलित तो रहे ही, पर साथ ही कई नये साधन भी अस्तित्वमें आये। पहलेके और बादके सभी अनुष्ठान अन्तर्दृष्टिसे संचालित हों, इस ओर सविशेष लक्ष अब दिया जाने लगा। जो कुछ करना वह सब निष्कामभावसे—निरीहभावसे और किसी भी प्रकारकी वासना या इच्छाके बिना करना ऐसा विचार आगे आता गया और अपना स्थान जमाता गया।[1] जो स्वर्गके लक्ष्यसे आगे नहीं बढ़े थे उनके साथ प्रारम्भमें मोक्षवादियोंकी मुठभेड़ होती रही,[2] पर

---

१. कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ —गीता २.४७-४८

२. मीमांसक यज्ञ आदि धर्मका अन्तिम फल स्वर्ग मानते थे, जब कि सांख्य जैसे मोक्षवादियोंने उस मार्गका प्रबल विरोध किया और कहा कि यज्ञमार्ग तो दोषयुक्त है—

लम्बे संघर्षके अनन्तर मोक्षवादने ही स्वर्गवादपर विजय प्राप्त की। पहले कर्म और तज्जन्य पुनर्जन्मको घटानेके लिए आत्म-तत्त्वके विचारने एक बड़ा क़दम उठाया था; अब मोक्षको घटानेके लिए उसे एक और नया क़दम उठाना पड़ा। इसकी वजहसे आत्मतत्त्वके स्वरूपकी मान्यतामें अनेक प्रकारकी स्पष्टता आई, जो इस समय सभी मोक्षवादी दर्शनोंमें एक तरहसे स्थिर-सी प्रतीत होती है।

मोक्षका क्या स्वरूप है और वह किस तरह प्राप्त हो सकता है—इस विषयमें अनेक मत प्रचलित थे और इस दिशामें अनेक चिन्तक व साधक अपनी-अपनी मान्यता स्थापित करते थे। उन सबमें एक बातपर मतैक्य था कि मोक्ष प्राप्त होनेके पश्चात् फिरसे पुनर्जन्मके फन्देमें नहीं फँसना पड़ता। मोक्षके स्वरूपकी विचारणाके साथ ही आत्मवादियोंको आत्मतत्त्वके स्वरूपके बारेमें भी नये सिरेसे सोचना पड़ा, और अपने-अपने माने हुए मोक्षके स्वरूपके साथ सुसंगत हो ऐसा आत्मतत्त्व मानना उनके लिए अनिवार्य-सा हो गया। तत्त्वद्वैतवादियोंमें जो जीव या आत्माको व्यावहारिक कसौटीके आधारपर देहपरिमित और परिणामी मानते थे उन्होंने मुक्तिदशामें भी आत्मतत्त्वको परिमित और परिणामी ही माना।[1] यह कल्पना सांख्यविचारकी उपर्युक्त दूसरी भूमिका तक पहुँचे हुए मोक्षवादियोंको संगत प्रतीत न हुई। उन्हें इस कल्पनामें मुख्य रूपसे दो दोष दिखाई दिये—प्रथम तो यह कि यदि आत्मा परिमित एवं परिणामी हो तो जड़तत्त्वकी

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥
—सांख्यकारिका २

१. यह मान्यता खास करके जैनपरम्परामें सुरक्षित है।

अपेक्षा उसमें वैशिष्ट्य क्या रहा? और दूसरा यह कि यदि आत्मतत्त्व संसारदशामें वस्तुतः विकृत हुआ हो तो मुक्त होनेके पश्चात् भी वह विकृत क्यों नहीं होगा? जो तत्त्व मोक्षकी दृष्टिसे स्वभावतः शुद्ध माना गया हो और फिर भी वास्तविक दृष्टिसे विकृत भी माना गया हो, वही तत्त्व मुक्ति-दशामें शुद्ध स्वभाव प्रगट करे तो भी उसका परिणामी स्वभाव उसे पुनः विकृत होनेसे कैसे रोक सकता है? शुद्ध स्वभाव प्रगट होनेके बाद किसी समय भी यदि विकृति उत्पन्न हो तो वैसा मोक्ष स्वर्गके जैसा ही हुआ। जैसे स्वर्गसे च्युत होना पड़ता है वैसे ही मोक्षकालीन शुद्ध स्वभावसे भी च्युत होना पड़ेगा। ऐसे किसी विचारपरसे उपर्युक्त द्वैतवादी सांख्यविचारसरणीने अपने मोक्षवादमें आत्माको परिमित न मानकर विभु अर्थात् अपरिमित माना और परिणामी न मानकर अपरिणामी अर्थात् कूटस्थ माना। उसने ऐसा भी माना कि आत्मतत्त्व स्वभावसे शुद्ध ही है। वह अपरिणामी होनेसे संसारदशामें भी विकृत नहीं होता। वह संसार एवं मोक्ष दोनों दशाओंमें एक जैसा सहज-शुद्ध ही रहता है। उसपर पुण्य-पापका किसी भी तरहका असर नहीं पड़ता। इसीलिए मुक्तिके अनन्तर विकृतिकी सम्भावना ही नहीं रहती। इन मोक्षवादी सांख्यविचारकोंने ऐसा मान लिया था कि संसार और मोक्ष तो प्रधान अथवा अव्यक्तका होता है, क्योंकि परिणामी होनेसे उसीमें ऐसी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ सम्भव हैं; आत्मा न तो बद्ध है और न मुक्त। प्रकृतिका कार्यप्रसव बन्ध है और उसीका प्रतिप्रसव (प्रलय) मोक्ष है।[१] प्रकृतिके ही ये

---

१. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

—सांख्यकारिका ६२

दोनों बन्ध एवं मोक्ष उसके समीपमें सदा विद्यमान आत्मतत्त्वमें आरोपित होते हैं। परिणामितत्त्वद्वैतवादी और परिणामी एवं कूटस्थ तत्त्वद्वैतवादी इन दोनों विचारसरणियोंका आत्मस्वरूप-विषयक उपर्युक्त मन्तव्य, जो हज़ारों वर्ष पहले निर्मित हुआ था, वह आज भी दार्शनिक चर्चाओंमें जीवित है।

मूलमें तो तत्त्वाद्वैतस्पर्शी सांख्यविचारसरणीमें परिणामवाद ही था। उसके पश्चात् द्वैतस्पर्शी दूसरी भूमिकामें कूटस्थवादका भी स्वीकार कैसे हुआ, यह हम देख चुके। आत्मवादके बारेमें दूसरे भी ऐसे महत्त्वके और विचारणीय मुद्दे हैं, जिनपर आगेका दार्शनिक विकास हुआ है। इनमें पहला मुद्दा आत्मबहुत्व और आत्मैकत्वका है। चालू जीवनमें सबको होनेवाले सुख-दुःखके भिन्न-भिन्न अनुभवोंके आधारपर देहभेदसे आत्मतत्त्व यदि भिन्न-भिन्न कल्पित हो तो वैसी कल्पना व्यावहारिक अनुभवसे बाधित नहीं है। इसी कारण प्रारम्भसे ही तत्त्वद्वैतस्पर्शी परिणामवादी परम्पराने जीवबहुत्व माना है। इसी प्रकार तत्त्वाद्वैत-स्पर्शी सांख्यने भी अपनी प्रथम भूमिकामें मौलिक अव्यक्त या प्रकृति तत्त्वमेंसे आविर्भूत और देहभेदसे भिन्न-भिन्न सत्त्व या जीव माने थे; अर्थात् मूलमें तत्त्वाद्वैतस्पर्शी पहली भूमिका भी जीव-बहुत्ववादी थी। जब उस विचारसरणीने द्वैतवादकी दूसरी भूमिका स्वीकार की तब भी उसने आत्मबहुत्ववादका मन्तव्य तो चालू[1] ही रखा। उसने आत्माको—पुरुषको विभु और कूटस्थ माना तो सही, पर वैसे आत्मा देहभेदसे भिन्न-भिन्न माने। प्रत्येक कूटस्थ आत्मामें संसार एवं मोक्षका आभास उत्पन्न कराने-वाला प्रधानतत्त्व भी प्रारम्भमें आत्मभेदसे भिन्न-भिन्न माना

१. जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥—सांख्यकारिका १८

गया था।[1] ऐसे कई प्राचीन उल्लेख मिलते हैं कि जिस तरह पुरुष नाना अर्थात् अनेक हैं उसी तरह प्रधान भी नाना ही हैं। प्रत्येक आत्माके साथ प्रधान अलग-अलग और इसी प्रधानका प्रसव या प्रतिप्रसव ही आत्माका क्रमशः बन्ध या मोक्ष है। परन्तु समय बीतनेपर यह मान्यता स्थिर न रही। सांख्यचिन्तकोंने सोचा कि देहभेदसे पुरुष भले ही भिन्न-भिन्न हों, पर प्रत्येक पुरुषके लिए एक-एक प्रधान क्यों माना जाय? प्रधान व्यापक तो माना ही जाता था; अतः उन्हें स्वाभाविक तौरपर विचार तो आया ही होगा कि व्यापक नाना प्रधानके स्थनामें एक ही व्यापक प्रधान मानकर और उसीके आविर्भावरूपसे नाना सत्त्व—नाना बुद्धियाँ स्वीकारकर नाना पुरुषोंके बन्ध-मोक्षकी उपपत्ति क्यों न की जाय? ऐसा मालूम होता है कि इस विचारके फलस्वरूप प्रधानबहुत्ववादमेंसे प्रधानैकत्ववाद निष्पन्न हुआ। इस भूमिकामें यद्यपि प्रधान एक ही माना गया, फिर भी पुरुष तो देहभेदसे भिन्न ही माने जाते थे। यह मान्यता ही इस समय सांख्य-दर्शनके नामसे प्रसिद्ध है।

प्रधानैकत्व और पुरुषबहुत्ववादकी उपर्युक्त भूमिकामेंसे एक नया विचार प्रादुर्भूत हुआ। वह यह कि यदि एक ही प्रधान-मेंसे नाना सत्त्वप्रधान नाना बुद्धियाँ मानकर जीवभेद एवं बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था हो सकती है तो व्यापक एवं कूटस्थ नाना पुरुष माननेकी क्या आवश्यकता है? जिस तरह वास्तवमें प्रधान एक ही माना जाता है उसी तरह पुरुष भी वास्तवमें यदि एक ही माना जाय तो भी प्रधानके सात्त्विक बुद्धिरूप नाना

---

१. मौलिक्यसांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक्-पृथक् प्रधानं वदन्ति; उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः।

—षड्दर्शनसमुच्चय—गुणरत्नीय टीका, का० ३६.

आविर्भावों द्वारा एक ही चेतनमें व्यावहारिक जीवभेदवादकी उपपत्ति सरलतासे की जा सकती है। ऐसा मालूम होता है कि ऐसी ही किसी विचारसरणीमेंसे चेतनाद्वैतवाद अस्तित्वमें आया होगा। एक ही कूटस्थ एवं विभु चेतनतत्त्व होनेपर भी वह नाना सात्त्विक बुद्धियोंके संसर्गके कारण देहभेदसे नाना भासित होता है। वस्तुतः जो सात्त्विक बुद्धिभेद है वही चेतना या ब्रह्ममें आरोपित होता है। जिस प्रकार प्रधान या बुद्धिका बन्ध-मोक्ष पुरुषोंमें आरोपित माना जाता है उसी प्रकार सात्त्विक बुद्धियोंका नानात्व भी एक ही व्यापक एवं कूटस्थ चेतनमें आरोपित करके व्यावहारिक जीवभेदके अनुभवकी तथा बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था इस भूमिकाने सिद्ध की। यहींसे आत्माद्वैतवाद या चेतनाद्वैतवादकी नींव पड़ती है।

विचारकी उपर्युक्त भूमिकामें प्रधानाद्वैत और चेतनाद्वैत ये दो अद्वैत तो सिद्ध हुए, पर साथ ही यहींसे एक बड़ी भारी उलझन भी पैदा हुई; और वह यह कि एक ही प्रधान अपने नाना परिणामों द्वारा यदि नाना अनुभवोंकी उपपत्ति करा सकता है और इसके लिए पुरुष-बहुत्व माननेकी आवश्यकता नहीं रहती, तो फिर आगे बढ़कर ऐसा क्यों न माना जाय कि एक ही अद्वैत हो और उसके द्वारा समग्र व्यवस्था घटाई जाय? पहले तत्त्वाद्वैतस्पर्शी सांख्यभूमिका मूलमें एक तत्त्व मानकर और उसमें जड़ एवं चेतनकी दो शक्तियाँ कल्पित करके उन शक्तियोंके द्वारा जड़-चेतन सृष्टिकी उपपत्ति करती थी। अब पृथक् चेतनतत्त्व तो माना ही गया था, अतः मोक्षकी दृष्टिसे प्रधानाद्वैत—तत्त्वैकत्व-वादकी ओर पीछेहट करना इष्ट न समझा गया। इससे कई तत्त्वचिन्तकोंने चैतनाद्वैतको ही माना और प्रधानाद्वैतको वास्तविक सत्कोटिका न मानकर उसे एक अनिर्वचनीय माया या अविद्यारूप कहा और उसके द्वारा बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था घटा

ली।[१] पर प्राचीन वास्तविक प्रधानाद्वैतवादी भी इस समय हाथ-पर हाथ धरकर चुपचाप बैठे तो नहीं थे। उन्होंने चेतनाद्वैत अथवा चेतनबहुत्व भिन्न न मानकर प्रधानाद्वैतकी प्रमुख मान्यताके ऊपर ही पुनर्जन्मकी भाँति मोक्षवाद भी घटाया और अपने इस मन्तव्यके अनुकूल शास्त्रवाक्यके अर्थ भी किये।

उपनिषदोंके आधारपर रचित ब्रह्मसूत्रके कई व्याख्याकार शंकराचार्यसे पहले भी हुए थे। वे तत्त्वाद्वैतवादकी प्रथम सांख्य-भूमिकाका अवलम्बन लेकर एकमात्र प्रधानतत्त्वको मानते थे और उससे भिन्न चेतनतत्त्व माने बिना ही मोक्ष आदि विषयोंकी उपपत्ति भी करते थे।

---

१. मोक्षो रजस्तमोऽभावाद् बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥ १४२ ॥

× × ×

एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्।
तत्त्वस्मृतिबलं येन गता न पुनरागताः ॥ १५० ॥
अयनं पुनराख्यातमतद्योगस्य योगिभिः।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम् ॥ १५१ ॥

× × ×

तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।
असंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥ १५४ ॥
अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते ॥ १५५ ॥
गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम्।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति ॥ १५६ ॥

—चरकसंहितागत शारीरस्थान, कतिधापुरुषीय प्रकरण, अ. १

ऊपरकी चर्चापरसे मूलमें तत्त्वाद्वैत माननेवाली सांख्य-विचारसरणीका, मोक्षपुरुषार्थकी दृष्टिसे उसके विकासक्रमका विचार किया जाय तो, तीन भूमिकाएँ फलित होती हैं। इनमेंसे प्रथम भूमिका चरकके शारीरस्थानके कतिधापुरुषीय प्रकरणमें उल्लिखित है। यही भूमिका ब्रह्मसूत्रके प्राचीन व्याख्याकारोंने सूत्रोंमेंसे फलित की हैं और इसी भूमिकाका शंकराचार्यने पूर्वपक्ष-के रूपमें अपने प्रायः समग्र भाष्यमें निर्देश किया है। दूसरी भूमिका प्रधान और चेतन दोनोंको सत् माननेवाली है। इसका प्रतिपादन ईश्वरकृष्णकी कारिका तथा योगसूत्र आदिमें है। तीसरी भूमिका केवलाद्वैतके नामसे प्रसिद्ध है। इसके प्रमुख पुरस्कर्ता आमतौरपर शंकराचार्य कहे जाते हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्रों-मेंसे उपनिषदोंके आधारपर यह भूमिका फलित की है।

यहाँतककी चर्चा मुख्यतः अनात्मवादके विरोधी जो प्राचीन दो आत्मवाद थे उनके आधारपर हुई। प्रकृतिजन्य जीववाद और स्वतःसिद्ध जीववादरूपसे इन दो वादोंका कुछ स्वरूप तथा इन दोनोंके पारस्परिक संघर्षके परिणामस्वरूप उनमें जो परि-वर्तन या विकास हुआ उसका संक्षिप्त चित्र भी ऊपर अंकित किया गया है। इस चित्रका अध्ययन करनेवाले तार्किक जिज्ञासुके मनमें ऐसा प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि यदि प्रकृतिजन्य जीव एवं स्वतःसिद्ध जीव इन दोनोंके परिणामित्व, देहपरिमितत्व, सुख-दुःख-ज्ञान-अज्ञान-पुण्य-पापयुक्तत्व जैसे स्वरूप समान ही हैं और विशेषमें सत्त्व, जीव, आत्मा जैसे नाम भी समान ही हैं, तो ये दोनों वाद क्या परस्पर एक दूसरेसे सर्वथा स्वतंत्र हैं अथवा किसी एक वादमेंसे, विचारकी अमुक भूमिका सिद्ध होनेपर, दूसरा वाद अस्तित्वमें आया है? यदि दोनों प्रारम्भ ही से सर्वथा स्वतंत्ररूपसे अस्तित्वमें न आये हों

और किसी एकमेंसे दूसरेका अस्तित्व फलित होता हो तो यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि मूल वाद कौनसा और उसमेंसे दूसरा जो फलित हुआ वह कौनसा ? इस प्रश्नका उत्तर दिये बिना आगे चर्चा करना अप्रासंगिक ही होगा। आगे जाकर आत्मवादके विकासकी जो कथा कहनी है उसका आधार भी उक्त प्रश्नका उत्तर ही है। अतएव इस प्रश्नका उत्तर तनिक विस्तारसे देना ही उपयुक्त होगा।

उक्त दोनों वादोंमें जीवतत्त्वका स्वरूपसाम्य एवं अभिधान-साम्य देखते हुए ऐसा तो माना ही नहीं जा सकता कि ये दोनों वाद प्रारम्भ ही से स्वतंत्ररूपसे अस्तित्वमें आये हों। इसलिए सोचनेका इतना ही बाक़ी रहता है कि कौनसा वाद दूसरेमेंसे फलित हुआ है ? यहाँपर दो विकल्प हो सकते हैं—(१) प्रकृति-जन्य जीववादमेंसे स्वतःसिद्ध जीववाद, या (२) स्वतःसिद्ध जीव-वादमेंसे प्रकृतिजन्य जीववाद ? विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम विकल्प ही स्वीकार्य हो सकता है। यदि मूलमें स्वतः-सिद्ध जीव और स्वतःसिद्ध अजीव इन दोनों तत्त्वोंको मानने-वाला तत्त्वद्वैतवाद होता तो उस वादसे पुनर्जन्म, मोक्ष आदिकी सम्पूर्ण उपपत्ति हो सकती थी; तो फिर दोनों तत्त्वोंके उपादान-रूपसे प्रकृति या प्रधान तत्त्व माननेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं रहती, जिससे कि वैसा प्रकृतितत्त्व मानकर उसमेंसे जीव-अजीवरूप दो सर्जन माननेकी कल्पनातक जाना पड़े। इसके विपरीत, यदि मूलमें ही प्रकृतिजन्य जीव-अजीव सर्जनोंकी मान्यता थी ऐसा मानें तो चिन्तनकी अमुक कक्षातक आनेपर ऐसे प्रश्न उठते हैं जिनका समाधान स्वतःसिद्ध जीव और अजीव-तत्त्वकी मान्यता फलित किये बिना किसी तरह शक्य ही नहीं है। संक्षेपमें वे प्रश्न इस प्रकार हैं—

(१) यदि मूलमें त्रिगुणात्मक प्रकृति ही एकमात्र तत्त्व हो और उसके गुणोंके तारतम्यके कारण ही जड़-चेतन या अजीव-जीव जैसे सर्जन होते हों तो वस्तुतः उन सर्जनोंमें कोई सच्ची भेदरेखा हो ही नहीं सकती, क्योंकि सत्त्वगुणके प्रकर्षके कारण जो सर्जन जीव कहलाता है वही सर्जन किसी समय इतर गुणोंका प्रकर्ष होनेपर अजीवभाव क्यों न प्राप्त करे ? अर्थात् ज्ञान, सुख, दुःख जैसे भावोंको त्यागकर जड़ता क्यों न प्राप्त करे ? इसी तरह जो सर्जन जड़ या अजीव कहलाते हैं वे तन्मात्रा या स्थूल भूत आदि तत्त्व भी सत्त्वगुणके प्रकर्षसे किसी समय ज्ञान, सुख, दुःख आदि भावोंका अनुभव क्यों न करें अर्थात् वे जीवन-व्यापार क्यों न धारण करें ?

(२) सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाको ही प्रकृति कहते हैं। इसमें क्षोभ होनेपर जीव-अजीव-सृष्टिका प्रसव होता है। जिस तरह वह क्षोभ किसी समय अकारण ही—स्वतः हुआ है उसी तरह क्षोभमूलक गुणवैषम्यमेंसे आविर्भूत जीव-अजीव-सृष्टिमें भी अकारण ही—स्वतः गुण-साम्य भी किसी समय प्रगट हो सकता है; और जब ऐसा होगा तब सृष्टिका अर्थात् पुनर्जन्मका प्रलय भी स्वयमेव होगा। ऐसी स्थितिमें मोक्षके लिए किये जानेवाले पुरुषार्थकी ज़रा भी आवश्यकता नहीं रहती। तब फिर इस पक्षमें मोक्षके विचारका महत्त्व क्या रहा ?

ऐसा प्रतीत होता है कि इन और इनके जैसे दूसरे प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए ही प्रकृतिजन्य जीव-अजीव तत्त्ववादमेंसे स्वतःसिद्ध जीव-अजीव तत्त्ववाद अस्तित्वमें आया होगा। जब यह वाद अस्तित्वमें आया तब इसने सिर्फ़ इतना ही मान लिया कि जीव-अजीवके उपादानके तौरपर प्रधान या प्रकृति नामक तत्त्व माननेकी

तनिक भी आवश्यकता नहीं है। ये दोनों तत्त्व मूलमेंसे ही भिन्न एवं स्वतःसिद्ध अनादि हैं और दोनोंके बीचकी भेदरेखा वास्तविक है, और इसीलिए न तो जीव कभी अजीवभाव प्राप्त करता है और न अजीव कभी जीवभाव प्राप्त करता है। चेतन चेतन ही है और अचेतन अचेतन ही। ऐसा होनेसे चेतन या जीवको मोक्ष-पुरुषार्थके लिए अवकाश रहता है। प्रकृतितत्त्वमेंसे जीव-अजीव सृष्टिका सर्जन-व्यापार शुरू होते ही जीव या सत्त्वमें जो सुख-दुःखसंवेदन आदि भावोंकी उपपत्ति की गई थी और उस सत्त्वका जो स्वरूप उस समय सिद्ध हुआ था वह सब जब स्वतःसिद्ध जीव-अजीवतत्त्ववाद अस्तित्वमें आया तब स्वतःसिद्ध अनादि जीवतत्त्व मानकर उसमें घटाया गया। यही वजह है कि हम प्रकृतिजन्य सत्त्व या जीव और स्वतःसिद्ध जीवमें एक तरहका पूर्ण साम्य देखते हैं। इतनी चर्चा यह जाननेके लिए पर्याप्त होगी कि पूर्वोक्त दोनों वादोंमेंसे कौनसा वाद दूसरेमेंसे फलित हुआ है और वह किस उपपत्तिके आधारपर।

आत्मवादी चिन्तनमें ये दोनों वाद अब अपने-अपने ढंगसे लोक-मानसका निर्माण कर रहे थे और अपने-अपने पक्षकी स्थापना तथा इतर पक्षोंकी त्रुटियाँ भी दिखा रहे थे। इस प्रक्रियाने चाहे जितना समय लिया हो, पर इन दोनों वादोंके पारस्परिक आक्षेप-प्रत्याक्षेपके परिणामस्वरूप एक तीसरा वाद अस्तित्वमें आया। वह वाद कौनसा है और किस तरह अस्तित्वमें आया, यह अब हम देखें।

हम ऊपर देख चुके हैं कि स्वतःसिद्ध जीव-अजीव तत्त्वद्वैतवाद, जो जैनपरम्परामें सुरक्षित है, प्रधानाद्वैतवादकी मूल सांख्य-भूमिकाका प्रथम विकास है। मूल प्रधानाद्वैतवाद और उसकी प्रथम सन्तति स्वतःसिद्ध जीव अजीव तत्त्वद्वैतवाद—इन

दोनों पिता-पुत्रके जैसे वादोंके संघर्षके परिणामस्वरूप प्रधानाद्वैत-वादने प्रधान-पुरुषरूप तत्त्वद्वैतवादको जन्म दिया। इस तरह प्रधानाद्वैतवादकी सांख्यविचारभूमिकामेंसे कालान्तरमें दो भाई जैसे दो वाद अस्तित्वमें आये। ये दोनों वाद यद्यपि स्वतःसिद्ध तत्त्वद्वैतको ही मानते हैं, फिर भी इन दोनोंके बीच खासा अन्तर भी है। पहले वादमें जीवतत्त्व भी अजीवकी ही भाँति परिणामी माना गया है और देह-परिमित होनेसे वह संकोच-विस्तारशील भी है, ऐसी कल्पना की गई है। परन्तु जीव तो अभौतिक पदार्थ है; उसमें संकोच-विस्तारशीलता मानना यह तो वस्तुतः उसमें भौतिकता माननेके बराबर है। अतएव इस दोषसे बचनेके लिए दूसरे वादने पुरुष या चेतनमें न तो माना परिणामित्व और न माना संकोच-विस्तारशीलत्व। उसने पुरुषको कूटस्थ कहकर अप-रिणामी और विभु कहकर संकोच-विस्ताररहित माना। इस प्रकार उसने अर्थात् सांख्यके प्रकृति-पुरुषद्वैतवादने प्रथम पक्ष अर्थात् जैनपरम्पराद्वारा सम्मत जीवतत्त्वके ऊपर आनेवाले भौतिकताके आरोपसे छुटकारा पाया। अपरिणामित्व एवं कूटस्थत्वकी कल्पनाने चेतन पुरुषमें एक ओर तो कर्तृत्व तथा बन्ध-मोक्षकी वास्तविकताका इनकार कराया तो दूसरी ओर बुद्धिसत्त्वमें पहले ही से माने जानेवाले ज्ञान-सुख-दुःख-पुण्य-पाप आदि जीवगत भावोंको पुरुषमें स्थान लेनेसे रोका। यहाँपर यह न भूलना चाहिये कि इस भूमिकामें दोनों वादोंको मोक्ष तो मान्य था ही। इसीलिए परिणामि-जीवतत्त्ववादीने अपरिणामी एवं कूटस्थ चैतन्यवादीसे कहा कि तुमने भौतिकताके दोषसे बचनेके लिए कूटस्थत्व तो माना, पर बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था कैसे घटाओगे? क्योंकि तुम्हारा पुरुष तो सर्वथा कर्तृत्वशून्य और इसीलिए भोक्तृत्वरहित होनेसे न तो वह बद्ध है और न मुक्त।

यदि बन्ध एवं मोक्षकी दृष्टिसे सर्वथा अयोग्य समझा जाय ऐसा तत्त्व मान्य रखोगे तो वैसे अनुपयोगी तत्त्वोंके स्वीकारका कोई अन्त ही नहीं आयगा। यद्यपि कूटस्थ पुरुषवाद पुरुषमें आरोपित बन्ध-मोक्ष मानकर जैसे-तैसे मन मना लेता था, पर वह कुछ वास्तविक समाधान नहीं था। तटस्थ तत्त्वज्ञ ऐसा तो समझते थे कि कूटस्थ पुरुषकी कल्पनाके साथ वास्तविक बन्ध-मोक्ष न घटा सकनेकी क्षति संकलित है ही। इसी प्रकार ऐसे तत्त्वज्ञोंको परिणामी तथा संकोच-विस्तारशील जीव या चेतनतत्त्व माननेमें भौतिकताका दोष भी दिखाई पड़ता था। इन सब कारणोंसे ऐसे तत्त्वज्ञोंने जीव, आत्मा या चेतनके स्वरूपकी एक नई ही कल्पना की। इस कल्पनाका मूल और मुख्य उद्देश्य कूटस्थ एवं परिणामी चेतनवादमें आनेवाले दोषोंसे मुक्ति प्राप्त करना यह था। अतः उन्होंने इन दोनों वादोंद्वारा सम्मत भिन्न-भिन्न स्वरूपोंका मिश्रण करके तीसरे एक नये आत्मवादकी ही सृष्टि तत्त्वज्ञानमें की, जो इस प्रकार है—

यह सही है कि आत्मा स्वतःसिद्ध तथा देहभेदसे भिन्न है, और यह भी सच है कि वह अपरिणामी व कूटस्थ होनेके अतिरिक्त विभु भी है, फिर भी उसमें कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व भी वास्तविक है और इसीलिए उसमें बन्ध और मोक्ष भी वास्तविक तौरपर ही घटमान हैं। बन्ध-मोक्ष वास्तविक होनेकी वजहसे कूटस्थ एवं विभु आत्मामें भी ज्ञान-सुख-दुःख-पुण्य-पाप आदि भाव वस्तुतः उत्पन्न एवं विनष्ट होते हैं। यह नया आत्मवाद ही वैशेषिक दर्शनकी विशेषता है। कालान्तरमें वैशेषिक दर्शनके समानतंत्र माने जानेवाले न्यायदर्शन तथा प्राचीन मीमांसादर्शनको भी यही आत्मवाद मान्य हुआ है।

वैशेषिक तत्त्वचिन्तकोंने ज्ञान-सुख-दुःख-पुण्य-पाप आदि

भाव अथवा गुणोंकी उत्पत्ति और नाश आत्मामें माना। इससे सहज ही ऐसी शंका उठ सकती है कि यदि ऐसा है तो फिर वैसे आत्माको कूटस्थ कैसे कह सकते हैं? इन भावोंके उत्पाद-विनाशके साथ ही इनके आधारभूत आत्माका स्वरूप भी कुछ-न-कुछ बदलेगा ही। यदि वह बदले तो आत्माके कूटस्थत्वका भंग होता है और वह परिणामी हो जाता है। इस प्रकारकी किसी भी शंकाके लिए स्थान न रहे इस दृष्टिसे उन्होंने आत्मा तथा उसके भाव या गुणोंके बीच भेदसम्बन्ध माना। आत्मामें वे भाव हैं तो सही, परन्तु वे उससे सर्वथा भिन्न हैं। अतः गुणोंका उत्पाद-विनाश होनेपर भी आत्माका उसके साथ कोई लगाव नहीं है। वह तो कूटस्थका कूटस्थ ही रहता है। इस तरह अबतक सामान्यतः गुण-गुणी एवं धर्म-धर्मीके बीच जो एक प्रकारका अभेद सम्बन्ध माना जाता था उसके स्थानमें वैशेषिक चिन्तकोंने भेदसम्बन्धकी कल्पना करके अपने पक्षपर आनेवाले दोषोंका निवारण किया। इस प्रकार उनका वाद भी दार्शनिक चिन्तन-क्षेत्रमें प्रविष्ट हुआ और रूढ़ भी हुआ। वस्तुतः प्रधानाद्वैतवादमेंसे कालक्रमसे फलित होनेवाले उपर्युक्त दो वादोंके अर्थात् जैन एवं सांख्यके समन्वयके रूपसे ही यह तीसरा वैशेषिकसम्मत वाद अस्तित्वमें आया है।

अब आत्मतत्त्वके बारेमें बौद्धदर्शनका क्या मत है यह भी हम देखें। सामान्यतया साधारण जनता और बहुत बार तो विद्वान् तक ऐसा समझते और कहते हैं कि बुद्ध अनात्मवादी थे और बौद्धदर्शन आत्मतत्त्वको नहीं मानता। ऐसी समझ और ऐसा कथन एक तरहसे भ्रान्त है। बुद्ध स्वयं और उनके समकालीन या उत्तरकालीन शिष्योंमेंसे कोई भी पुनर्जन्मका इनकार नहीं करता; बल्कि सच तो यह है कि समग्र बौद्धपरम्पराका निर्माण

पुनर्जन्म, कर्मतत्त्व एवं बन्ध-मोक्षके ऊपर ही हुआ है। कुशल-अकुशल कर्मके अनुसार कोई भी व्यक्ति देहविलयके पश्चात् नया जन्म धारण करता है, और शील, समाधि एवं प्रज्ञाकी साधना-द्वारा निर्वाण प्राप्त करता है—यह बौद्धदर्शनका पहलेसे आज-तक निर्विवाद सिद्धान्त रहा है और यह सिद्धान्त आत्मतत्त्वके स्वीकारपर ही अवलम्बित है। ऐसी दशामें बौद्धदर्शनको, जैसा आम तौरपर समझा जाता है, अनात्मवादी दर्शन नहीं कह सकते। हाँ, इतना ज़रूर है कि स्वयं बुद्ध और उनके शिष्य आत्म-तत्त्व माननेपर भी उसके लिए आत्मा शब्दका प्रयोग नहीं करते थे और कूटस्थवादियोंकी भाँति वे उस तत्त्वको शाश्वत या कूटस्थ भी नहीं मानते थे। जो आत्मतत्त्वको कूटस्थ मानते थे और जो इसी अर्थमें 'आत्मा' शब्दका व्यवहार मुख्य रूपसे करते थे उन्होंने बौद्धदर्शनकी भिन्न वृत्ति और रुख़ देखकर उसे अपनी दृष्टिसे अनात्मवादी कहा और आत्मवादकी जमी हुई प्रतिष्ठाका उपयोग करके उसे नीचा दिखानेका प्रयत्न किया—वस्तुतः इसमें इतना ही सत्य है। अपने जैसी मान्यता न रखनेवालेको नास्तिक कहने-का जो अविचारी रिवाज-सा चल पड़ा है उसके जैसी यह बात है। अन्यथा बौद्धदर्शन भी इतर पुनर्जन्मवादी दर्शनोंकी भाँति आत्मवादी ही है; फिर भले ही वह 'आत्मा' शब्दका प्रयोग सकारण न करे अथवा उसका इनकार करे।

बौद्धदर्शनमें आत्मतत्त्वके लिए भिन्न-भिन्न स्थानोंपर और भिन्न-भिन्न समयमें गौण-मुख्य भावसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं; जैसा कि—[१]पुग्गल, पुरिस, सत्त, जीव, चित्त, मन, विज्ञान

---

१ सब्बे सत्ता अवेरा…सब्बे पाणा…सब्बे भूता…सब्बे पुग्गला…।
—पटिसंभिदा २. १३० और विसुद्धिमग्ग ९. ९

आदि। बौद्धपरम्परामें 'नाम-रूप' यह शब्दयुगल बहुत प्रचलित है। साधारण लोग तथा कुछ दार्शनिक भी 'नाम-रूप' में आये हुए 'नाम' का जो अर्थ करते हैं[1] वह बौद्धपरम्पराको अभिप्रेत नहीं है। बौद्धपरम्पराके अनुसार नाम अर्थात् रूपका प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व। बौद्धपरम्परा 'रूप' का अर्थ केवल नेत्रग्राह्य श्वेत आदि रूप न करके उसका विशाल अर्थ करती है। उसके मतके अनुसार सूक्ष्म-स्थूल सभी भौतिक पदार्थ 'रूप' शब्दके अर्थमें समाविष्ट होते हैं। अतः उसके मतसे 'नाम' के अर्थमें अभौतिक वस्तुका ही समावेश होता है। इसीलिए तो 'नाम' को अरूपी स्कन्ध कहा है और उसके अर्थविस्तारमें वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन चार स्कन्धोंका समावेश किया गया है। बौद्धपरम्पराने 'नाम' पदसे जिस अर्थकी विवक्षा की है वही अर्थ उसे आत्मतत्त्वके रूपसे अभिप्रेत है और वही वस्तु 'चित्त' या 'मन' शब्दसे भी व्यवहृत होती है। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्धपरम्पराने नामका (नाम-रूप युगलमें) जो अथ मान्य रखा है वह प्राचीन उपनिषदोंमें प्रयुक्त 'नाम-रूप' में आये हुए 'नाम' पदके अर्थकी अपेक्षा कुछ भिन्न है। जड़ या बाह्य जगत्से भिन्न सजीव अन्तस्तत्त्व ही कभी 'नाम' शब्दसे व्यवहृत होता था। जिस प्रकार जैन-दर्शनमें जीव-अजीव या चेतन-जड़ और सांख्य आदि दर्शनोंमें प्रकृति-पुरुष आदि परस्पर विरुद्ध-गुण-धर्मवाले दो तत्त्व माने गये हैं, उसी प्रकार बौद्धदर्शन भी नाम और रूप शब्दसे वैसे ही दो परस्पर विरोधी तत्त्वोंको स्वीकार करता है। इनमें जो नामतत्त्व है वही पुनर्जन्म धारण करनेवाला और विकासक्रमके अनुसार निर्वाण प्राप्त करनेवाला

---

१ उदाहरणार्थ देखो ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यपरकी रत्नप्रभा टीका २. २. १६।

तत्त्व है। अतएव ऐसा कहना चाहिये कि बौद्धदर्शनने 'नाम' शब्दसे आत्मतत्त्वस्थानीय चेतनतत्त्वका स्वीकार किया है। इस-परसे फलित यही होता है कि बौद्धदर्शनको चेतनवादी ही कहना चाहिये।

अब हमें यह देखना है कि बौद्धदर्शनने 'नाम' शब्दद्वारा जो सजीव या सचेतन अमूर्त तत्त्व स्वीकार किया है उसका स्वरूप वह कैसा मानता है ? बौद्धपिटकोंके प्राचीन भाग तथा अभिधर्मकी मान्यताको देखनेसे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि बौद्धदर्शन नाम अथवा चित्त-तत्त्वको कूटस्थ तो नहीं मानता, पर साथ ही मात्र क्षणजीवी भी नहीं मानता।[1] वह नाम अथवा चित्त-तत्त्वको उत्पाद, नाश एवं स्थिति—इस प्रकार त्रिरूप मानता है। बुद्ध न तो शाश्वतवादी हैं और न उच्छेदवादी; अतः वे जिस प्रकार तत्त्वको कूटस्थ नहीं मानते थे उसी प्रकार निर्मूल विनश्वर भी नहीं मानते थे। उनका विचार एवं आचारमार्ग मध्यम है। वे विभज्यवादी हैं; अतः उन्होंने उत्पाद-विनाश और स्थिति स्वीकार कर नाम या चित्त-तत्त्वमें मध्यम मार्ग घटाया हो तो यह स्वाभाविक है। इस तरह यदि हम देखें तो बौद्धसम्मत नामतत्त्व जैनसम्मत जीवतत्त्व जैसा ही परिणामी सिद्ध होता है और सांख्यसम्मत प्रकृति-तत्त्वकी भाँति ही वह भी परिणामिनित्य है। ऐसी स्पष्ट प्ररूपणा एवं मान्यता होनेपर भी बौद्धदर्शनको क्षणिकवादी क्यों कहा जाता है ?—यह एक विचारणीय प्रश्न है।

---

१ तिणीमानि भिक्खवे संखतस्स संखतलक्खणानि··· उप्पादो पञ्ञायति वयो पञ्ञायति ठितस्स अञ्ञथत्तं पञ्ञायति।

—अंगुत्तरनिकाय, तिकनिपात

उप्पादठितिभंगवसेन खणत्तयं एकचित्तक्खणं नाम।

—अभिधम्मट्ठसंगहो ४. ८

इस बारेमें हम विचार करें उससे पहले बौद्धदर्शनसम्मत नामतत्त्व या चित्ततत्त्वकी मान्यता किस प्राचीन मान्यतामेंसे ली गई है अथवा किससे अलग पड़ती है—इसपर हम संक्षेपमें विचार कर लें।

इतिहासज्ञ जानते हैं कि बुद्ध स्वयं श्रमणमार्गी थे और उनके आचार-विचारका उद्गम तथा विकास प्रायः प्राचीन सांख्य तथा जैनदर्शनकी भूमिकापर हुआ है। प्राचीन सांख्य प्रकृतिजन्य सत्त्वप्रधान बुद्धितत्त्वको ही ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म आदि भावोंका आधार मानकर उसीको पुनर्जन्मवान् और अन्तमें मोक्षगामी मानते थे। पहले कहा जा चुका है कि सांख्यकी इस विचारभूमिकाके समय ही जैनदर्शनके जीवतत्त्वने स्वतःसिद्ध स्वतंत्र तत्त्वके तौरपर स्थान लिया। यद्यपि सांख्यदर्शनने आगे जाकर इस प्राचीन सत्त्व या जीवसे भिन्न कूटस्थ पुरुषोंकी कल्पना की, पर इस कल्पनामें जैनदर्शन सम्मत न हुआ और अपनी पूर्वभूमिकासे ही वह चिपका रहा। इसपरसे स्पष्ट होता है कि कूटस्थ-पुरुषवादी सांख्यभूमिकाके स्थिर होनेपर भी उस समय उसमें प्राचीन सत्त्व या बुद्धितत्त्वकी मान्यता चालू ही थी; यद्यपि अब उस तत्त्वने चेतनका स्थान छोड़कर उसके उपकारक सूक्ष्म आतिवाहिक लिंगशरीरका स्थान ले लिया था, जब कि जैनदर्शनमें उस तत्त्वने चेतन या आत्मतत्त्वका ही स्थान टिकाये रखा। बौद्धदर्शन कूटस्थवाद स्वीकार नहीं करता, अतः सांख्यदर्शनसम्मत कूटस्थपुरुषवादकी भूमिकाको तो वह मान सके ऐसा था ही नहीं। अतएव उसने जैनदर्शनसम्मत स्वतंत्र अथवा स्वतःसिद्ध जीव-तत्त्वकी भूमिका मान्य रखकर 'नाम' शब्दसे मुख्यतः स्वतःसिद्ध जीव, सत्त्व आदि शब्दोंसे उल्लिखित एवं व्यवहृत तत्त्वको अपने दर्शनमें स्थान दिया। बौद्धदर्शनसम्मत 'नाम' तत्त्व उत्पाद, व्यय एवं स्थितिशील होनेसे मूलमें परिणामी है और अविभु भी है।

यह देखते हुए इस बारेमें तनिक भी शंकाके लिए अवकाश नहीं रहता कि बौद्धदर्शनका 'नाम' तत्त्वविषयक सिद्धान्त वस्तुतः सांख्यके प्रकृतिजन्य बुद्धितत्त्व अथवा जैनके स्वतःसिद्ध जीव-तत्त्वसम्बन्धी मान्यतामेंसे ही फलित हुआ है।

ध्रुव, नित्य, शाश्वत और स्थिर आदि शब्द जैसे प्राचीन हैं वैसे समानार्थक भी हैं। जो कालक्रममें टिकाऊ हो, सदा सत् या विद्यमान हो उसीका ध्रुव, नित्य आदि शब्दोंसे व्यवहार होता था। विचारकी इस भूमिकामें ध्रुव, सदा सत् या शाश्वत तत्त्वमें किसी तरहका परिवर्तन होता ही नहीं और वह जिस तरह कालक्रममें सदा सत् है उसी तरह भीतर और बाहरसे अपरिवर्तिष्णु भी है—ऐसी मान्यताको स्थान नहीं मिला था। पर हम पहले देख चुके हैं कि सांख्यदर्शनने प्रकृतिसे भिन्न पुरुषतत्त्व मानकर उसे कूटस्थ भी माना तब नित्यत्व, सदासत्त्व या शाश्वतत्वके साथ भीतर और बाहरसे अपरिवर्तिष्णुता भी जुड़ी और ऐसा माना जाने लगा कि जो कूटस्थ है वह कालक्रममें सदा विद्यमान रहता है; इतना ही नहीं, पर वह अपने आपसे या दूसरे किसीके संसर्गसे भी परिवर्तित नहीं हो सकता। पूर्वकालमें प्रचलित नित्यत्वकी कल्पनामें कूटस्थताका समावेश होनेपर अब नित्यत्वकी कल्पना दो भागोंमें विभक्त हुई—एक कूटस्थ नित्य और दूसरी इसकी विरोधी परिणामि-नित्य। सांख्यदर्शनमें पहली कल्पना पुरुषतक मर्यादित रही और दूसरी कल्पना पहले ही से जैसे प्रधान या प्रकृति-तत्त्वको लागू होती थी वैसे ही चालू रही। जैनदर्शनने कूटस्थनित्यत्ववादका विरोध किया। वह जड़ एवं चेतन सभी तत्त्वोंमें परिणामित्वकी कल्पनाका समर्थन करने लगा। इस प्रकार दार्शनिक विचारप्रदेशमें नित्य शब्दके अर्थके बारेमें मुख्य रूपसे परस्पर विरोधी दो पक्ष अस्तित्वमें आये।

दूसरी बातोंमें बौद्धदर्शन प्राचीन जैन-मान्यतासे चाहे जितना अलग-सा पड़ गया हो, पर प्रारम्भमें वह नित्यत्वके स्वरूपके बारेमें जैनदर्शनके साथ एकमत था। परन्तु क्रमशः इस स्थितिमें परिवर्तन होता गया। जैन और बौद्ध दोनों दर्शन पुरुष-कूटस्थताका प्रतिवाद तो करते ही थे, पर वे न्याय-वैशेषिकसम्मत जातिनित्यता अथवा जातिकूटस्थतावादका भी विरोध करने लगे। यह खण्डन-मण्डनकी प्रणाली तर्क और मुख्यतः विकल्पावलम्बी थी। तर्क ज्यों-ज्यों अधिकाधिक सूक्ष्म बनते गये और विकल्पोंका जाल भी ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर अधिकाधिक फैलता गया त्यों-त्यों यह या वह पक्ष, विरोधीका दृष्टिबिन्दु यथावत् ग्रहण करनेके बदले, येन केन प्रकारेण उसके खण्डनमें ही रस लेने लगा। इससे बहुत बार तो वह प्रतिपक्षीके अभिप्रेत अर्थको एक ओर रखकर विकल्पद्वारा अपने ही कल्पित या माने हुए अर्थका प्रतिवाद करने लगता। इसका एक विनोदपूर्ण एवं रोचक उदाहरण यह है कि सांख्यदर्शन प्रधानतत्त्वको परिणामि-नित्य मानता है और इसलिए उसमें एक क्षणके लिए भी परिवर्तित न हो ऐसा स्थिरांश नहीं मानता। वह उस तत्त्वको जो नित्य कहता था वह तो उसकी प्रावाहिकताके कारण, क्योंकि परिवर्तित होनेपर भी वह तत्त्व प्रवाहरूपसे तो सर्वदा रहता ही है। परन्तु विश्लेषणप्रधान बौद्धदर्शनने न्याय-वैशेषिकसम्मत जाति अथवा सामान्यकी कूटस्थताका खण्डन विकल्पोंद्वारा किया तब उसने सांख्यसम्मत प्रकृतिवादकी भी समीक्षा शुरू की और सांख्यको अभिप्रेत नहीं ऐसा प्रकृतिका न्याय-वैशेषिकसम्मत सामान्य जैसा कुछ अर्थ करके उसका भी प्रतिवाद किया और ऐसा सिद्ध किया कि सांख्यसम्मत प्रधान-तत्त्व भी युक्तिबाह्य है। बौद्धदर्शनने अपनी कपोलकल्पनासे प्रकृतिकी जो स्थिरता मान ली थी उसका प्रतिवाद प्रकृतिके

प्रतिक्षण उत्पन्न या आविर्भूत होनेवाले क्षणविनश्वर परिणामोंकी सत्यताका आश्रय लेकर किया। इससे विरोधी पक्षोंने बौद्धोंपर क्षणवादिता अथवा निरन्वयनाशवादिताका आरोप लगाया। सांख्यदर्शनसम्मत प्रकृतितत्त्वको स्थिर मानने-मनानेमें जितने अंशमें बौद्धदर्शन एकांगी था—भ्रान्त था उतने ही अंशमें बौद्ध-दर्शनको निरन्वयनाशवादी या केवल क्षणिकवादी कहनेवाले भी एकांगी और भ्रान्त थे। इसका कारण यह है कि जिस तरह परिणामि-नित्यतावादी कालक्रमकी दृष्टिसे सर्वदा विद्यमान तत्त्वको भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील मानते थे और किसी भी तरहसे परिवर्तित न हो ऐसा नहीं मानते थे, उसी तरह तथाकथित निरन्वयनाशवादी बौद्ध भी प्रतिक्षण नये-नये उत्पन्न विनश्वर भावोंकी एक अभेद्य स्वतःसिद्ध सन्तति मानते थे।

बौद्धसम्मत क्षणिक भाव सन्ततिच्युत नहीं हैं। और सन्ततिसे मतलब है कालक्रममें भावोंका सातत्य। सन्तति शब्दसे जो अभि-प्रेत है वही सांख्य एवं जैनदर्शनको परिणामि-नित्य शब्दमें आये हुए 'नित्य' पदसे अभिप्रेत है। अतएव हम कह सकते हैं कि तत्त्वतः सन्तति नित्यता और परिणामि-नित्यता एक ही है। दोनोंके बीच जो भेद भासित होता है वह खण्डन-मण्डनकी प्रणालिकाद्वारा बिछाये गये विकल्पोंके जालकी वजहसे ही।

तथागत बुद्धकी विचारशैली मूलसे ही विश्लेषणप्रधान थी। वह बुद्धि एवं प्रज्ञासे विचारणीय वस्तुमात्रका इतना बारीक और गहरा पृथक्करण करते थे कि बहुत बार तो वह तत्त्व देश व कालके अविभाज्य सूक्ष्मतम अंशमें मर्यादित हो जाता था। उनके तार्किक शिष्योंने इस शैलीका बेहद विकास किया। इस वजहसे उनके विचारप्रदेशमें प्रत्येक वस्तु दैशिक एवं कालिक अविभाज्य

इकाई जैसी बन गई और वे स्वयं सन्तति माननेपर भी न मानते हों ऐसे आभास या भ्रान्तिमें पड़ गये। इससे उनका वाद 'क्षणिकवाद'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। विश्लेषणकी सूक्ष्मताका यश भले ही बौद्धोंको मिले, पर वस्तुतः वे परिणामि-नित्यतावादी ही हैं और इसीलिए वे सांख्य एवं जैनदर्शनसम्मत परिणामि-नित्यतावादसे जुदा नहीं पड़ते, सोचनेपर ऐसा प्रतीत होता है।

जैनदर्शनमें द्रव्य एवं पर्याय ये दो शब्द प्रसिद्ध हैं। सामान्यतः बौद्ध जैसे प्रतिवादी ही नहीं, स्वयं जैन भी, मानो पर्यायोंमें अनुस्यूत एक स्थिर तत्त्व हो इस तरह द्रव्यकी कल्पना करते हैं। यह भी एक भ्रान्ति है। द्रव्य शब्दमें 'द्रु' धातु है। उसका अर्थ है द्रवित होना—बहना। इस तरह द्रव्यका अर्थ हुआ प्रवाह। कालमें जो बहता रहे वह द्रव्य। यही अर्थ सन्तति और सन्तान शब्दोंसे सूचित होता है। जो कालपटके विस्तारके साथ ही फैलता या विस्तृत होता रहे अथवा बीचमें विच्छिन्न हुए बिना निरन्तर सातत्यका अनुभव करता रहे वह तत्त्व सन्तान कहलाता है। अतः जैनदर्शन द्रव्य शब्द पसन्द करे या बौद्धदर्शन सन्तान शब्द पसन्द करे अथवा दोनों नित्य शब्द पसन्द करें, इससे तात्पर्यमें ज़रा भी फ़र्क नहीं पड़ता। उदयन न्यायकुसुमाञ्जलिमें 'प्रवाहोऽनादिमानेषः' (का० ६) ऐसा जो कहता है वह यही वस्तु है। जिसने बौद्धदर्शनको सर्वप्रथम निरन्वयनाशवादी कहा उसने ऐसा मान लिया होगा कि पूर्वापर क्षणोंके बीच बौद्ध कोई अन्वयी (स्थिर) तत्त्व तो मानते ही नहीं, तो फिर निराधार क्षण कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? परन्तु हमें तो यह सोचना चाहिये कि स्वयं बौद्ध भी जड़-चेतनकी नाना सन्ततियाँ अनादिसिद्ध मानते हैं, अतः अन्वय नहीं है ऐसा कैसे कहा जा सकता है? पर सच तो यह है कि बौद्ध तार्किक नित्यतावादके खण्डनके आवेशसे

इतने अधिक रँगे हुए थे कि वे स्वयं स्वाभिप्रेत सन्ततिकी सत्ता माननेसे हिचकिचाते थे, और इसीलिए उनकी मान्यतामात्र क्षणजीवी—क्षणविनश्वर भावों तक ही सीमित रहती। इसी कारण वे क्षणवादी समझे गये।

सांख्यसम्मत बुद्धितत्त्वमें सुख, ज्ञान, धर्म आदि भाव माने गये हैं। जैनसम्मत जीवतत्त्वमें चैतन्य, वीर्य आदि गुण या शक्तियाँ और उनके कार्य अर्थात् पर्याय माने गये हैं। न्याय-वैशेषिक-सम्मत आत्मतत्त्वमें ज्ञान, सुख, प्रयत्न, धर्म आदि गुण स्वीकार किये गये हैं। इसी प्रकार बौद्धदर्शनसम्मत नामतत्त्वमें वेदना विज्ञान, संज्ञा और संस्कार स्कन्धोंकी मान्यता है। यहाँपर स्कन्ध अर्थात् अंश। ये अंश केवल कल्पनासे ही भिन्न हैं; वस्तुतः वे परस्पर अविभाज्य होनेसे सहभू एवं सहभावी हैं। यह संक्षिप्त तुलना इतना जाननेके लिए पर्याप्त होगी कि सम्प्रदाय एवं दर्शन-भेदसे आत्मतत्त्वके स्वरूपकी मान्यता चाहे जितनी विभक्त क्यों न हुई हो, पर सभी दर्शन भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग करनेके बावजूद भी अन्ततः एक मौलिक समान भूमिकापर ही आकर ठहरे हैं।

यहाँपर प्रसंगवश यह भी जानना ज़रूरी है कि सांख्यके प्रकृति-भिन्न कूटस्थ एवं बहुपुरुषवादने आगे जाकर जिस तरह पुरुषाद्वैत तथा ब्रह्माद्वैतका रूप ग्रहण किया और इसके परिणामस्वरूप मायावाद अस्तित्वमें आया, उसी तरह बौद्धसम्मत नामरूपवाद भी कालान्तरमें केवल नामवाद अर्थात् विज्ञानवादरूपसे प्रतिष्ठित हुआ और विज्ञानसे भिन्न 'रूप' के वास्तविक अस्तित्वके इनकारमें परिणत हुआ। विज्ञानाद्वैतकी ब्रह्माद्वैतके ऊपर छाप है या ब्रह्माद्वैतकी विज्ञानाद्वैतके ऊपर छाप है?—यह प्रश्न विचारणीय होनेपर भी यहाँपर इसके बारेमें विस्तार न करके इन दोनों अद्वैतोंके तारतम्यपर प्रकाश डालना विशेष उपयुक्त होगा।

यह सही है कि विज्ञानाद्वैतमें विज्ञानबाह्य रूप जैसा कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि विज्ञान-सन्तति एक ही हो। वैसी सन्ततियाँ अनन्त हैं और वे क्षणभेद-से उत्पन्न-विनष्ट होती रहती हैं। ब्रह्माद्वैत कूटस्थ एवं व्यापक एक ही ब्रह्मतत्त्वको मानकर भेदमात्रको मायिक अर्थात् अविद्यामूलक मानता है जब कि विज्ञानाद्वैत विज्ञानकी सन्ततियोंके अथवा क्षण-भेदसे उत्पन्न-विनष्ट होनेवाले विज्ञानोंके भेदोंको मायिक नहीं मानता। वह केवल विज्ञानसे भिन्न माने जानेवाले रूप या मूर्त तत्त्वकी बाह्यताको सांवृत—मिथ्या—आविद्यक मानता है।

तत्त्वज्ञानमें मुख्यतः जीव, जगत् एवं ईश्वर—इन तीन तत्त्वोंके आधारपर विचार किया जाता है। इस विचारमें मुख्यतः कभी अभेददृष्टि तो कभी भेददृष्टिका अवलम्बन लिया जाता है। इन भेद एवं अभेद-दृष्टियोंमेंसे फलित होनेवाली भेदाभेद, कथं-चिद् भेद जैसी अन्य दृष्टियोंको भी तत्त्वज्ञानमें स्थान मिला है। यहाँ तक भिन्न-भिन्न परम्पराओंमें पर्यवसित आत्मतत्त्वसम्बन्धी विचारका ऐतिहासिक एवं तात्त्विक दृष्टिसे निरूपण हुआ। अब आत्मतत्त्वके साथ एक अथवा दूसरे प्रकारसे जिसका अत्यन्त निकटका सम्बन्ध है उस परमात्मतत्त्वके विषयमें विचार करना प्रसंगोपात्त है।

परमात्मतत्त्व

[२]

परमात्मा, परमपुरुष, पुरुषविशेष, पुरुषोत्तम, ईश्वर, ब्रह्म—ये सब प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं और जीव, आत्मा या चेतन जैसे शब्दोंसे प्रतिपादित तत्त्वके स्वरूपकी अपेक्षा कोई उच्च या श्रेष्ठ और भव्य ऐसे अनुपम स्वरूपका ख़याल इनसे आता है। जड़-जगत्की अपेक्षा चेतन-जगत्की भिन्नताका विचार जैसे-जैसे स्पष्ट होता गया वैसे-वैसे चेतन-जगत्में भी सामान्य चेतनकी अपेक्षा उच्च प्रकारका परम चेतनतत्त्व है अथवा होना चाहिये ऐसा विचार ज़ोर पकड़ता गया।

परमात्मा, परमेश्वर, परमब्रह्म या परमदेव शब्दसे पहचाने और समझे जानेवाले तथा पूजे और ध्यान किये जानेवाले परम-तत्त्वकी आज जो जीवित कल्पनाएँ और मान्यताएँ हमारे समक्ष हैं वहाँतक पहुँचनेकी विचारयात्रा करनेमें मानव-मानसको हज़ारों वर्ष लगे हैं। इस लम्बी और जटिल यात्रामें उसने अनेक पड़ाव किये हैं और अनेक स्थानोंपर विश्राम लिया है। यह सही है कि इस समग्र यात्राका ब्योरेसे लिखा हुआ इतिहास उपलब्ध नहीं है, किन्तु आज हमारे पास जितना साहित्य है उसमें भी इस विचारयात्राका क्रमविकास जाननेकी सामग्री प्रचुर मात्रामें बिखरी पड़ी है और वह स्पष्ट भी है। इसके अतिरिक्त इस विचारयात्राके किसी-किसी पहलूका उल्लेख साहित्यमें यदि उप-लब्ध नहीं होता तो वह जीवित लोकधर्ममेंसे अथवा विश्वके किसी अपरिचित या अल्पपरिचित कोनेमें सुरक्षित धार्मिक मान्यता एवं आचारमेंसे भी प्राप्त हो सकता है।

बालकके मानसिक विकासकी भाँति मानवजातिके मानसका भी क्रमविकास देखा जाता है। इस विकासकी तीन भूमिकाएँ हैं—बहिर्मुख, अन्तर्मुख और ऊर्ध्वमुख या सर्वतोमुख[1]। धर्म एवं उसके साथ अनिवार्य रूपसे संकलित देव, अधिदेव, देवाधिदेव और परमात्माके स्वरूपके बारेमें, मानवमानसकी विकासभूमिकाके अनुसार, उत्तरोत्तर नये-नये विचार होते रहे हैं। इन नये-नये विचारोंके कारण नई-नई मान्यताएँ भी स्थिर हुई हैं। बहुत बार ऐसा भी देखा जाता है कि बादकी भूमिकामेंसे निष्पन्न धार्मिक तथा ईश्वरसम्बन्धी मान्यताएँ प्रचलित हों ऐसे मण्डलों या वर्तुलोंमें भी पूर्वकालीन भूमिकामेंसे पैदा हुए या बँधे हुए विचार और मान्यताएँ भी सुरक्षित रही हैं। ईश्वर या परमात्माविषयक सभी ज्ञात मतोंको सामान्यतः ध्यानमें रखकर उनका रुख जाँचे तो पहली बात यह नज़रमें आती है कि ईश्वरके स्वरूपसे सम्बद्ध विचार भेददृष्टिमेंसे शुरू होकर उत्तरोत्तर अभेददृष्टिकी ओर ही आगे बढ़े हैं। भेददृष्टिमें जीव और प्राकृतिक तत्त्वोंका भेद, प्राकृतिक घटनाओं और उनके प्रेरक देवोंका भेद, अनेक देवोंका पारस्परिक भेद और देवों तथा परमदेव परमात्माका भेद—इस तरह अनेकविध भेदोंका समावेश होता है; जब कि अभेददृष्टिमें प्राकृतिक दृश्य एवं घटनाओं और उनके प्रेरक देवोंके बीचका भेद लुप्त हो जाता है, अनेक देवोंके बीचका पारस्परिक भेद भी नष्ट हो जाता है। वह यहाँतक कि अन्ततः जीव और परमात्माके बीचका भेद भी

---

१. एडवर्ड केर्ड नामक एक विद्वान्ने धर्मके विकासकी तीन भूमिकाएँ निश्चित की हैं। वह कहता है कि—"We look out before we look in; and we look in before we look up."

—हिन्दू वेदधर्म, पृ० १५

लुप्त होकर मात्र छायारूप रह जाता है, और प्राकृतिक जगत् भी एक ऐसा छायारूप ही समझा जाने लगता है।

मानवीय मानस बहिर्मुख भूमिकासे गुज़रकर जितने अंशमें अन्तर्मुख होता गया उतने अंशमें अभेददृष्टिका विकास देखा जाता है, और वह जैसे-जैसे अधिक अन्तर्मुख होता गया वैसे-वैसे उसकी अभेददृष्टिमें भी विस्तार और विकास होता गया है। जब उसने सबसे ऊँची ऊर्ध्वमुख या सर्वतोमुख भूमिकामें प्रवेश किया तब तो उसने प्रायः भेददृष्टिका लोप ही कर डाला और अभेददृष्टिके नये-नये शिखरोंपर अपनी विजयपताका फहराई। इसके साथ ही साथ दूसरी भी ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि विकासकी बहिर्मुख भूमिकाके समय मनुष्य देव या देवोंको जिस भावनासे मानता या पूजता था वह भावना, उसके मानसकी अन्तर्मुख स्थितिके समय कुछ परिवर्तित होती है और ऊर्ध्वमुख स्थितिके समय तो यह परिवर्तन बहुत बड़ा रूप धारण करता है।

मनुष्य प्रारम्भमें देवको सर्जनका कर्ता मानकर पूजता। बादमें उसमें कर्तृत्वकी भावनाके साथ-साथ न्यायकर्ताकी भावनाका भी समावेश हुआ; अर्थात् देव सृष्टिका कर्ता है इतना ही नहीं, पर वह जीवोंको न्यायमार्गपर प्रेरित करनेवाला होनेसे उनके सुकृत-दुष्कृतके अनुसार अच्छे-बुरे फल भी देता है। संक्षेपमें कहना हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि देव जीवोंका नीति-नियामक है। जब मानव-मन इससे भी अधिक अन्तर्मुख और कुछ ऊर्ध्वमुख बना तब उसने देव या परमात्माको कर्ता या नीतिनियामक रूपसे न देखकर मात्र साक्षी रूपसे देखने, उपासना करने और ध्यान धरनेकी वृत्ति अपनाई। ऊर्ध्वमुखताकी भूमिकामें जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया वैसे-वैसे उसने उस परमात्माको भिन्न या साक्षीरूप माननेके बदले उसका अभिन्न

स्वरूप देखा; और स्वतंत्र परमात्मा भिन्नत्व एवं साक्षीत्वकी स्थितिमेंसे एक ओर जीव और जगत्के साथ अभिन्न स्वरूपमें पर्यवसित हुआ, तो दूसरी ओर स्वतंत्र जीव ही परमात्मरूप देखे जाने लगे। सारांश यह कि एक ओर अभेददृष्टिके विकासके परिणामस्वरूप परमात्मा या परब्रह्मरूप एक ही तत्त्व वास्तविक माना गया और उसमें जीवोंका एवं जगत् तकका अस्तित्व लुप्त हो गया, तो दूसरी ओर बहुआत्मवादकी मान्यतामें अनेक आत्माओंका स्वतंत्र अस्तित्व माने जानेपर भी वे आत्मा परमात्मस्वरूप या परब्रह्मस्वरूप माने गये। पहले अभेदमें जीव परमात्मामें विलीन हो गये, तो दूसरे अभेदमें जीवोंमें ही परमात्मा समा गया।

प्रकृति या निसर्ग पूजामेंसे शुरू होकर परमात्माकी ध्यानोपासनामें पर्यवसान पानेवाली मानवीय मानसकी विचारयात्रा मुख्य रूपसे उपलब्ध वैदिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थोंमें दृष्टिगोचर होती है। वैदिक वाङ्मयमें वेदों और उपनिषदोंका, उनमें भी ऋग्वेदका, स्थान अनेक दृष्टिसे महत्त्वका है। ऋग्वेदके प्रारम्भिक स्तरसे लेकर उपनिषद्के अन्तिम स्तर तकमें इस समग्र विचारयात्राका चित्र अत्यन्त उठावदार और असन्दिग्ध रूपसे आलिखित है। ऋग्वेदमें सूर्य, चन्द्र, उषस्, अग्नि, वायु आदि प्राकृतिकतत्त्व उनकी महत्ता एवं अद्भुतताके कारण माने जाते हैं, उनकी स्तुति होती है और वे पूजे भी जाते हैं, पर साथ ही उन तत्त्वोंकी महत्ताकी प्रेरक शक्तिरूपसे अनेक देव अस्तित्वमें आते हैं और वे देव ही उस-उस प्राकृतिक घटनाके कर्ता माने जाते हैं। यह भूमिका अनेकदेववादकी है इसमें धीरे-धीरे सुधार और परिवर्तन होता है। अनेकदेववादमें एक-एक देव उस-उस मानवसमूहमें माना जाता था और उसकी पूजा भी होती थी, पर वे

मानवसमूह जैसे-जैसे एक दूसरेके नज़दीक आते गये वैसे वैसे उन देवोंकी मान्यताका दायरा भी विस्तृत होता गया तथा उसमें रूपान्तर भी होता गया। कभी अनेक देवोंकी साथ ही और समान भावसे पूजा व स्तुति होती है, तो कभी उनमेंसे एक-एक बारी-बारीसे प्रधान बनकर दूसरे उस समयके लिए गौण बन जाते हैं। इनमेंसे अन्ततः एक ही देव बाक़ी रहता है और दूसरे देव उसमें समा जाते हैं। यह एक देव ही उस समय परमात्मा है; और यही हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, प्रजापति जैसे नामसे व्यवहृत हुआ है। ब्राह्मण और उपनिषदोंमें एकदेवके रूपमें प्रजापति ही शेष रहता है। अलबत्ता, कभी-कभी इसके लिये स्वयम्भू पदका भी प्रयोग हुआ है। यह एक देव या एकेश्वरकी मान्यता, आगे जाकर अद्वैतका विकास होनेपर भी, आज तक क़ायम रही है। न्याय-वैशेषिक दर्शनमें इसी एक परमेश्वरने महेश्वरका नाम धारण करके सृष्टिके कर्तृत्वका तथा पुण्य-पापके नियामकत्वका पद सुरक्षित रखा है, तो वैष्णव-परम्पराओंमें इसने पुरुषोत्तम, वासुदेव या नारायणके नामसे यह स्थान बनाये रखा है। सेश्वर सांख्य या योगशास्त्रमें इसने पुरुषविशेष या ईश्वरके नामसे यह स्थान क़ायम रखा है। यह पुरुषविशेष कर्त्ता या न्यायदाता मिट-कर साक्षीरूप बना रहता है, जो सांख्य तत्त्वज्ञानकी पुरुषविषयक कूटस्थनित्यत्वकी मान्यताके साथ संगत है।

परन्तु, सृष्टिका कर्ता और नीतिका नियामक तथा सृष्टि-नीति उभयका साक्षीरूप एक स्वतन्त्र परमात्मा है ऐसी मान्यता भी भिन्न-भिन्न परम्पराओंमें एक या दूसरे रूपसे दृढ़मूल होनेपर भी उसके सामने एक अधिक सूक्ष्म और अधिक ऊर्ध्वगामी मान्यता भी अस्तित्वमें आती है, जिसकी ऋग्वेदके कई सूक्तोंमें झाँकी मिलती है और जो उपनिषदोंके कई भागोंमें बहुत स्पष्ट है तथा

शंकराचार्य जैसे प्रौढ़ आचार्योंने जिस मान्यताको अद्भुत रूपसे पल्लवित एवं पुष्पित करके समझाया और घटाया भी है। यह मान्यता अर्थात् जीव या जगत्से भिन्न कोई एक परमात्मतत्त्वको स्वीकार न करना, किन्तु भौतिक विश्व और उससे पर सर्वत्र व्याप्त एक सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म ही वास्तविक है, वही अन्तिम है और वही सब कुछ है ऐसा मानना। इस अखण्ड परब्रह्मकी मान्यतामें न तो देश-कालका भेद वास्तविक रहता है और न जीवात्माओंका पारस्परिक पृथक्त्व एवं भिन्नत्व ही वास्तविक रहते हैं। इस प्रकार ऋग्वेदमें दिखाई देनेवाली निसर्गपूजा अनेकदेववाद, क्रमप्रधानदेववाद, एकदेववाद और अन्तमें परब्रह्मवादमें पर्यवसित होती है। इन विभिन्न वादोंमेंसे इस समय एकेश्वरवाद और परब्रह्मवाद ये दो वाद ही सभी वैदिक दर्शनोंको, एक या दूसरे रूपसे प्रधानतया अपनेमें समा लेते हैं। देवविषयक दूसरे प्राचीन अनेक वाद इन दो मुख्य वादोंके आसपास या तो विलीन हो जाते हैं या फिर पौराणिक वर्णन जैसे बने रहते हैं।

अब हम जैन और बौद्ध-परम्पराके बारेमें विचार करें। सब कोई जानते हैं कि ये दोनों परम्पराएँ मूलमें ही वैदिक वाङ्मयको अन्तिम प्रमाण नहीं मानतीं। इतना ही नहीं ये वैदिक वाङ्मयसे निरपेक्ष होकर अपने मन्तव्योंको स्थिर करती और सँभालती आई हैं। जब ये दोनों परम्पराएँ वेद, ब्राह्मण और उपनिषदोंके आधारपर विचार न करके स्वतन्त्ररूपसे विचार करती हैं तब स्वाभाविकरूपसे ही इनके जीव, जगत् व परमात्मविषयक चिन्तन और मत भिन्न ही भूमिकापर स्थित हुए।

वैदिक वाङ्मय और वेदावलम्बी दर्शनोंमें अनेक देव या एक देव प्रधान होता है। अनेक देव उस-उस सर्जनके कर्ता माने जाते हों, अथवा कोई विश्वकर्मा, प्रजापति जैसा एक देव समग्र

सर्जनका कर्ता माना जाता हो तथा वरुण या अन्य किसी नामसे देव प्राणियोंके सुकृत-दुष्कृतका प्रेरक अथवा मानवका मार्गदर्शक समझा जाता हो तब ऐसे देवों या देवको माननेवाला कोई भी भक्त, उपासक, ज्ञानी, कर्मयोगी वा कर्मकाण्डी मनुष्य कुदरती तौरपर अनेक देव या एक देवके प्रति गौण बनकर किंकर या दास बन जाता है तथा उसकी कृपा और अनुग्रह पानेके लिए उत्सुक बना रहता है। जैन एवं बौद्ध-परम्परामें देवोंका स्थान है, पर वे छोटे-बड़े सब देव भौतिक विभूतिमें चाहे जितने बड़े क्यों न हों, फिर भी उनकी अपेक्षा मनुष्यका स्थान बहुत उत्कृष्ट माना गया है। जैन-बौद्ध दोनों परम्पराओंकी एक ध्रुव मान्यता है कि बाह्यविभूति एवं शारीरिक शक्तिकी दृष्टिसे मनुष्य देवोंकी अपेक्षा चाहे जितना अल्प और क्षुद्र क्यों न हो, पर जब वह आध्यात्मिक मार्गपर आगे बढ़ता है तब बड़ेसे बड़े शक्तिशाली देव भी उसके दास बन जाते हैं। इस तरह वैदिक परम्परामें परमेश्वरका कर्ता और नीतिनियामक रूपसे जो स्थान है उसका बौद्ध या जैन-परम्परामें कोई अवकाश पहले ही से नहीं था। इस प्रकार दोनों परम्पराओंमें कर्ता एवं नीतिनियामकके तौरपर परमेश्वरका कोई अस्तित्व न रहनेसे नित्य-परमेश्वरका मात्र साक्षीरूप स्थान, जो योगपरम्परामें सुरक्षित है वह भी, नहीं रहता। इन दोनों परम्पराओंमें मनुष्य—आध्यात्मिक मनुष्य—साधनाके शिखरपर पहुँचा हुआ मनुष्य ही देवाधिदेव या परमात्माका स्थान लेता है और वह भी कर्ता या फलदाताके रूपमें नहीं, किन्तु मात्र आदर्श उपास्यके रूपमें।

वैदिक परम्परामें सर्जनव्यापार ऋग्वेदके कालसे ही दो प्रकारसे देखा जाता है। कोई एक समर्थ देव अपनेसे भिन्न उपादान द्रव्यमेंसे विश्वकी सृष्टि करता है। यह हुई भेददृष्टि। मूलमें ही

कोई तत्त्व ऐसा है जो अपने संकल्प और तपके बलसे दूसरे उपादानके बिना ही अपनेमेंसे चराचर सृष्टि पैदा करता है—यह हुई अभेददृष्टि। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराएँ उपर्युक्त दोनों वैदिक दृष्टिओंको स्वीकार न करके ऐसा मानती हैं कि अचेतन और भौतिक तत्त्व तथा चेतन सत्त्व या जीव मूलतः स्वतंत्र हैं—इनका सर्जन कोई नहीं करता। इनमें भी जो चेतन सत्त्व हैं उन सबमें ऐसी शक्ति है कि उसके द्वारा वे अपना ऊर्ध्वगामी आध्यात्मिक विकास साध सकते हैं। इस मान्यताके ऊपर इन दोनों परम्पराओंका धार्मिक संविधान या ढाँचा निर्मित होनेसे इनके मन्तव्यके अनुसार साधना द्वारा जो पूर्ण शुद्धि प्राप्त करते हैं वे सभी परमात्मा बन सकते हैं। उनमें न कोई उच्च होता है और न कोई नीच। इस तरह इन दोनों परम्पराओंमें परमेश्वर, पुरुषोत्तम या परमात्मासे मतलब है वासना और बन्धनसे मुक्त जीव। ऐसे सत्त्व या जीव अनेक हो सकते हैं।

यहाँ विवर्तवादी केवलाद्वैती ब्रह्मवाद और जैन-परम्पराके बीच परमात्मतत्त्वके स्वरूपके विषयमें क्या अन्तर है यह भी जानना आवश्यक है। केवलाद्वैती ब्रह्मवादमें पारमार्थिक तत्त्वरूपसे एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही माना जाता है, अतः यह जो जीवभेद दिखाई पड़ता है वह केवल औपाधिक है। शुद्ध ब्रह्मस्वरूपका अथवा जीवब्रह्मके ऐक्यका वास्तविक ज्ञान होते ही जीवका औपाधिक अस्तित्व विलीन हो जाता है और शुद्ध परब्रह्म जो देश-कालकी उपाधिसे पर है, वही अनुभवगत रहता है; जब कि जैनपरम्परामें जीवोंका वैयक्तिक भेद वास्तविक है, जीवोंसे भिन्न कोई ब्रह्मतत्त्व नहीं है। ब्रह्मतत्त्वका जो पारमार्थिक सच्चिदानन्द स्वरूप उपनिषदोंमें माना गया है यह पारमार्थिक स्वरूप जैनदृष्टिसे प्रत्येक जीवात्मामें अन्तर्निहित है, सिर्फ़ आवरणोंसे

आवृत होता है इतना ही। जो जीवात्मा योग्य साधना द्वारा इन आवरणोंको सर्वथा दूर करता है वह स्वयं ही विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप बन जाता है। अतएव जैनदृष्टिसे जो-जो जीवात्मा निरावरण बनते हैं वे सभी समान भावसे परब्रह्म हैं। इस प्रकार केवलाद्वैती वेदान्तकी अभेददृष्टि और जैन-परम्पराकी भेददृष्टिके बीच आकाश-पाताल जितना अन्तर होनेपर भी परमात्मस्वरूपके बारेमें अद्‌भुत साम्य है और वह यह कि तत्त्वतः सच्चिदानन्द ब्रह्म एक हो या अनेक, पर उसकी सच्चिदानन्दरूपता दोनोंमें एकसी उपास्य है।

यद्यपि बौद्ध-परम्परामें विदेहमुक्त चित्त या सत्त्वका अर्थात् निर्वाणकालीन स्थितिका जैन या वैदिक परम्परामें मिलता है वैसा कोई स्पष्ट और सबको मान्य हो ऐसा वर्णन नहीं है; उसमें यह स्थिति अव्याकृत ही मानी गई है[1]; फिर भी इतना तो सर्व-

---

१. 'किं पन भन्ते, होति तथागतो परं मरणा? इदमेव सच्चं मोघं अञ्ञंति ?'

"अव्याकतो खो एतं पोट्ठपाद, मया—होति तथागतो परं मरणा, इदमेव सच्चं मोघं अञ्ञं ति।"

'किं पन भन्ते, न होति तथागतो परं मरणा? इदमेव सच्चं मोघं अञ्ञं ति' ?

" एतं पि खो पोट्ठपाद, मया अव्याकतं—न होति तथागतो परं मरणा, इदमेव सच्चं मोघं अञ्ञं ति।"

'किं पन भंते, होति च न च होति तथागतो परं मरणा? इदमेव सच्चं मोघं अञ्ञं ति ?'

"अव्याकतो खो एतं पोट्ठपाद, मया—होति च न च होति तथागतो परं मरणा, इदमेव सच्चं मोघं अञ्ञं ति।"

सम्मत है कि लोकोत्तरभूमिपर पहुँचा हुआ जो कोई सत्त्व हो

'किं पन भन्ते, नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा ? इदमेव सच्चं मोघं अञ्ञं ति ?'

"एतं पि खो पोट्ठपाद, मया अब्याकतं—नैव होति न न होति तथागतो परं मरणां, इदमेव सच्चं मोघं अञ्ञं ति !"

'कस्मा पनेतं भन्ते, भगवता अब्याकतं ति ?'

"न हेतं पोट्ठपाद, अत्थसंहितं न धम्मसंहितं न आदिब्रह्मचरियकं, न निरोधाय न उपसमाय न अभिञ्ञाय न सम्बोधाय न निब्बाणाय संवत्तति। तस्मा तं मया अब्याकतं ति।"

"एवमेव खो चित्त, यस्मिं समये ओलारिको अत्तपटिलाभो होति''' पे''''अरूपो अत्तपटिलाभो त्वेव तस्मिं समये संखं गच्छति। इति इमा खो चित्त, लोक-समञ्ञा लोकनिरुत्तियो लोक-वोहारा लोक-पञ्ञत्तियो याहि तथागतो वोहरति अपरामसं ति।" —दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त २६-२७-५५

"यानि'मानि दिट्ठिगतानि भगवता अब्याकतानि ठपितानि पटिक्खितानि—'सस्सतो लोको इति पि, असस्सतो लोको इति पि, अन्तवा लोको इति पि, अनन्तवा लोको इति पि, तं जीवं तं सरीरं इति पि, अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं इति पि, होति तथागतो परंमरणा इति पि, न होति तथागतो परम्मरणा इति पि, होति च न होति तथागतो परम्मरणा इति पि, नेव होति न न होति तथागतो परम्मरणा इति पि''''।"—मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्यसुत्त पृ० ६५। (बम्बई यूनिवर्सिटी प्रकाशन)

यही वस्तु दीघनिकायके पोट्ठपादसुत्त पृ० २१७-१८ पर भी आती है। इसके विशेष तुलनात्मक अध्ययनके लिए देखो—न्यायावतारवार्तिकवृत्तिकी प्रस्तावना पृ० १५ और ३७।

अव्याकरणीयताका मुद्दा योगसूत्र ४,३३ के भाष्यमें प्रकारान्तरसे चर्चित है। इसी तरह आचारांगसूत्र १७०,१ में भी इस वस्तुकी चर्चा है।

वह सर्वथा वासनाबन्धन या संयोजनासे विमुक्त होनेके कारण विशुद्धस्वरूप है और वही अर्हत्, सुगत अथवा परमात्मा रूपसे पहचाना जा सकता है।

ऊपर जो थोड़ी चर्चा की है उसका सार यही है कि यदि न्याय-वैशेषिक आदि कई परम्पराएँ एक स्वतंत्र कर्ता तथा नीति-नियामक रूपसे परमात्माको मानती हैं, तो कोई योग और सेश्वर सांख्य जैसी परम्परा मात्र साक्षीरूप एक परमात्माको मानती है, तो दूसरी केवलाद्वैत जैसी कोई परम्परा वैसे भिन्न कर्ता, नियामक और साक्षीरूप एक परमात्माको न मानकर सम्पूर्ण चराचरके भीतर और बाहर तथा उससे अभिन्न ऐसे एक सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्त्वको परमात्मा कहती है; जब कि दूसरी जैन-बौद्ध जैसी परम्पराएँ ऊपरकी सब मान्यताओंसे जुदा होकर नाना जीव या सत्त्वोंका पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करके उनमें ही शक्तिरूपसे परमात्माका स्वरूप मानती हैं और प्रयत्नसे प्रत्येक जीवात्मा या सत्त्व उस परमात्मस्वरूपको व्यक्त करता है ऐसा भी स्वीकार करती हैं।

जीव एवं परमात्मरूपसे आत्मा या चेतनकी थोड़ी विचारणा करनेके बाद उन दोनोंके बीच क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। तत्त्वचिन्तनके परिणामस्वरूप जीवात्मा और परमात्माका अस्तित्व सिद्ध होते ही मानव-मनमें प्रश्न उठा कि जीवात्माका परमात्माके साथ किस तरहका सम्बन्ध हो सकता है? सम्बन्धकी इस जिज्ञासामेंसे अनेकविध साधनामार्ग अस्तित्वमें आये और इन मार्गोंके अन्तिम साध्यके तौरपर मोक्ष-पुरुषार्थका आदर्श स्थिर हुआ।

उपलब्ध भारतीय वाङ्मयमें तत्त्वचिन्तनकी जो धारा

दिखाई पड़ती है उसका विकासक्रम देखनेपर ऐसा जान पड़ता है कि ऋग्वेदके महत्त्वपूर्ण कतिपय सूक्तोंमें जो तत्त्वचिन्तन है वह बहुत गूढ़, गंभीर और आकर्षक है, फिर भी मूलकारणविषयक जिज्ञासा, तर्क, कुतूहल और संशयकी भूमिकामेंसे ही वह मुख्यतः प्रवृत्त हुआ है।[1] अभी उसमें आध्यात्मिक साधनाका या परमतत्त्वके साथ जीवात्माके सम्बन्धका मार्मिक प्रश्न उपस्थित ही नहीं हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थोंमें तत्त्वचिन्तन है सही, पर वह यज्ञादि कर्मकांडके स्वरूप और उसके ऐहिक-पारलौकिक लाभोंकी कामनामें ही उलझ गया है, जब कि उपनिषदोंका तत्त्व-चिन्तन भिन्न ही भूमिकापर चलता है। उनमें आधिभौतिक या आधिदैविक मुद्दोंकी चर्चा तो आती है, पर वह आध्यात्मिक भूमिकाकी पृष्ठभूमिके तौरपर ही। इसीलिए उपनिषदोंका तत्त्व-चिन्तन जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धको प्रधानरूपसे छूता है; और बौद्ध या जैन-वाङ्मयमें उपलब्ध तत्त्वचिन्तनकी तो नींव ही पहलेसे आध्यात्मिक भूमिका रही है। इसीलिए हम उपनिषदों और जैन आगमों या बौद्ध पिटकों तथा उत्तरवर्ती दर्शनसूत्रोंमें मोक्षके अतिरिक्त दूसरे किसी प्रश्नकी प्रधानता नहीं पाते।

यों तो प्रत्येक जीवात्मा या चेतनमें अचिन्त्य दिव्य शक्ति है जो न तो स्थूल-इन्द्रियगम्य है और न स्थूल-मनोगम्य, और फिर भी वह है; इतना ही नहीं, वह स्पन्दमान और प्रगतिशील है— इस बातकी प्रतीति मानवदेहधारी चेतनकी जागृतिद्वारा मिलती है। मनुष्य अपनेमें रही हुई इस दिव्य शक्तिकी अकल्प्य प्रेरणासे ही चालू जीवनके रसहीन और तंग दायरेमेंसे मुक्त होने और जैसी स्थिति है उसमेंसे विशेष और विशेष ऊर्ध्वगामी बननेकी

---

१. देखो ऋग्वेद १०.१२१ प्रजापतिसूक्त; १०.१२९ नासदीयसूक्त; ८.८९ विश्वकर्माविषयक सूक्त और १०.११० त्वष्टाविषयक सूक्त आदि।

उत्सुकता रखता है और उसके लिए जद्दोजहद भी करता है। ऐसी किसी गूढ़ दिव्य शक्तिकी प्रेरणा या जागृति न होती तो मानवमनने अपने आत्मस्वरूपके बारेमें तथा अपने आसपासके जगत्‌के स्वरूपके बारेमें खोज न की होती और अकल्प्य ऐसे परमात्मस्वरूपका आदर्श सम्मुख रखकर त्रिविध एषणामेंसे निष्पन्न चिर-परिचित सुखोंको छोड़नेमें परमानन्द न माना होता। ऐसी आध्यात्मिक प्रेरणाके कारण ही मनुष्यने मोक्षपुरुषार्थके साथ निष्कामताका सम्बन्ध अनिवार्य है ऐसा अनुभव किया और उसी मार्गपर प्रस्थान शुरू किया। मनुष्यने—साधक मनुष्यने अनुभवसे देखा कि परमात्मपदके साथ उसका सम्बन्ध द्वैतकोटिका हो या अद्वैतकोटिका, पर वह सम्बन्ध अर्थात् मुक्ति सिद्ध करनेका अनिवार्य साधन निष्कामता या निष्कषायता है। किसी भी आध्यात्मिक परम्पराका ऐसा साधक नहीं है जो परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए निष्कामताको अनिवार्य साधन न मानता हो। इस तरह जीवात्मा और परमात्माके बीचके सम्बन्धके प्रश्नने साधकके समक्ष मोक्षका आदर्श उपस्थित किया और साथ ही सर्वसम्मत साधनके तौरपर निष्कामताकी ओर उसे मोड़ा।

निष्कामताकी सिद्धिके बहिरंग एवं अन्तरंग साधनोंका तथा उसकी पूर्ण सिद्धि तककी क्रमिक भूमिकाओंका विचार करनेसे पूर्व मोक्षके स्वरूपके बारेमें दार्शनिक साधकोंकी जो मान्यताएँ उनका संक्षेपमें यहाँपर निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा। सामान्यतः मुक्ति या मोक्षके दो रूप माने गये हैं। पहला सदेह अवस्थामें सिद्ध होनेवाली जीवन्मुक्ति और दूसरा सर्वदाके लिए देहधारणसे मुक्त होनेकी अर्थात् विदेह अवस्थामें होनेवाली विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति देहधारी आत्मामें सिद्ध होनेवाली राग-द्वेष-मोहकी सर्वथा निवृत्ति है। ऐसा जीवन्मुक्त देहके साथ

सम्बन्ध होनेके कारण शक्य और आवश्यक हो वैसी और उतनी प्रवृत्ति करता है, फिर भी रागद्वेषजन्य वृत्तियों और अज्ञानका लेश भी स्पर्श न होनेसे वह बँधता नहीं है। उसकी समग्र प्रवृत्ति साहजिक रूपसे ही कल्याणवह होती है और शेष आयुष्यका परिपाक होते ही वह विदेहमुक्त बनता है। ऐसे जीवन्मुक्तका जैन-परम्परामें अर्हत्, तीर्थंकर या सयोगिकेवली रूपसे वर्णन है, तो बौद्ध-परम्परा अर्हत्, सुगत या लोकोत्तर सत्त्वरूपसे उसका वर्णन करती है। न्याय[1] और योगपरम्परामें[2] भी ऐसे जीवन्मुक्तका अस्तित्व माना गया है और उसका चरमदेह, केवली, कुशल आदि विशेषणोंसे उल्लेख किया है। सामान्यतः रामानुज, मध्व आदि वैष्णव-परम्पराओंके सिवाय सभी आध्यात्मिक परम्पराएँ जीवन्मुक्तका अस्तित्व मान्य रखती हैं।

विदेहमुक्त होनेपर जीवात्माका स्वरूप और उसकी स्थिति कैसी होती है, इस विषयमें भी दार्शनिकोंने कल्पनाएँ की हैं और ये कल्पनाएँ बहुत बार तो एक दूसरीसे विरुद्ध भी हैं। फिर भी प्राप्त साधनोंके आधारपर मुक्त आत्माके स्वरूपके विषयमें वे दार्शनिक मान्यताएँ कैसी हैं इसका अवलोकन यहाँ कुछ तफ़सीलसे करेंगे।

देहके साथ ही चैतन्यका अस्तित्व विलुप्त होता है ऐसी मान्यतावाले अपुनर्जन्मवादी उच्छेदवादी कहे जाते हैं, पर जो देह नाशके बाद भी चैतन्यका किसी-न-किसी रूपमें निरन्तर अस्तित्व मान्य रखते हैं वे शाश्वतवादी कहे जाते हैं। शाश्वतका

---

१. सोऽयमध्यात्मं बहिश्च विविक्तचित्तो विहरन् मुक्त इत्युच्यते।

—न्यायभाष्य ४. २. १

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य।

—न्यायसूत्र ४. १. ६४

२. योगसूत्रभाष्य २. ४. २७

अर्थ है वह तत्त्व जो निरन्तर टिका रहे और कभी उच्छिन्न न हो। शाश्वतके अर्थमें नित्य, ध्रुव, कूटस्थ जैसे पदोंका भी प्रयोग होता था।[१] परन्तु एक समय निरन्तरताके पारमार्थिक स्वरूपके बारेमें तत्त्वचिन्तकोंमें प्रश्न खड़े हुए। वे प्रश्न ये हैं—(१) जो तत्त्व सतत रहनेपर भी किसी भी प्रकारसे परिवर्तित न हो—क्या निरन्तरका यह अर्थ है? अथवा (२) सतत अस्तित्व होनेपर भी जो सहभूशक्तिसे और बाह्य निमित्तसे सजातीय या विजातीय किसी भी प्रकारके परिवर्तन या परिणामका अनुभव कर सके वह? मूलमें शाश्वत या निरन्तर तत्त्वके स्वरूपके बारेमें ये दो प्रश्न थे। कोई शाश्वत तत्त्वको अपरिवर्तिष्णु मानते तो कोई परिवर्तिष्णु। पहले प्रकारके कूटस्थनित्यवादी और दूसरे प्रकारके परिणामिनित्यवादी कहे जाते हैं। दोनों तत्त्वको नित्य या निरन्तर तो मानते ही हैं, फ़र्क सिर्फ़ परिवर्तन मानने न माननेका है। यह फ़र्क दरसानेके लिए प्रथम प्रकारके चिन्तकोंने नित्यके साथ कूटस्थ पद जोड़ा, तो दूसरे प्रकारके चिन्तकोंने परिणामी पद जोड़ा। ये दोनों प्रकारकी मान्यताएँ इतने अंशमें तो समान हैं कि निरन्तर रहनेवाला तत्त्व या द्रव्य न तो कभी सर्वथा अपूर्व उत्पन्न होता है और न सर्वथा विनष्ट ही होता है।

शाश्वत और उच्छेदवाद ये दोनों सर्वथा परस्पर विरुद्ध होनेसे आमने-सामनेके अन्तिम छोर हैं। ऐसी अन्तिम कोटियाँ एकान्त या एकांगी होनेसे पारमार्थिक नहीं हो सकतीं ऐसे विचारमेंसे बुद्धने मध्यमप्रतिपदाकी प्ररूपणा और उसका विकास

---

१. यह विचार प्रथम व्याख्यानमें पृ. ४४ पर आया है। फिर भी यहाँ पुनः चर्चा इसलिए की है कि प्रस्तुत सन्दर्भ समझनेमें सरलता हो। वस्तुतः दोनों स्थानोंका विषय एक है, पर उनका निरूपण सन्दर्भके अनुसार होनेसे विषयकी विशेष स्पष्टता ही होती है।

किया।[1] इसका दार्शनिक चिन्तनमें मूलमें अर्थ इतना ही है कि कोई भी द्रव्य या तत्त्व न तो सिर्फ़ शाश्वत ही हैं और न सिर्फ़ उच्छेदशील। तत्त्व हो तो वह ऐसा ही हो सकता है कि उसमें कूटस्थता भी न हो और उच्छेदशीलता भी न हो। इस मध्यम-मार्गी विचारमेंसे क्रमशः सन्ततिनित्यतावादका विकास हुआ। इसका भाव इतना ही है कि परिवर्तित होनेवाला ऐसा कोई अनुस्यूत या अखण्ड द्रव्य नहीं है, पर पूर्वोत्तर क्षणोंमें बहनेवाली एक सतत धारामात्र है। यहाँपर हमें तो इतना ही ध्यानमें रखना है कि सन्ततिनित्यतावाद पुनर्जन्म मानता ही है और पुनर्जन्म माना तो फिर जन्म-जन्मान्तरमें चित्त या चैतन्यधाराका सातत्य मानना ही रहा। दूसरी बात यह है कि सन्ततिनित्यता-वाद कूटस्थनित्यता एवं परिणामिनित्यता इन दोनोंका विरोध करनेवाला एक पक्ष है, जिसे इन दोनों पक्षोंके आक्षेपोंका निरा-करण करके अपना अस्तित्व सिद्ध करना है। इसी प्रकार कूटस्थ-नित्य और परिणामिनित्यवादोंको भी सन्ततिनित्यता पक्षकी ओरसे होनेवाले प्रहारोंको रोककर अपना अस्तित्व बनाये रखना था। इस संघर्षके कारण प्रत्येक पक्षपर दूसरे पक्षोंका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे प्रभाव पड़ा ही है, फिर चाहे वह प्रभाव कोई खुले तौरपर स्वीकार करे अथवा शब्दान्तर या परिभाषान्तरसे छिपाये या उसे गूढ़ बना दे। तत्त्वचिन्तनकी इतनी सामान्य भूमिका जाननेपर ही भारतीय आत्मवादी प्रत्येक परम्पराके संसार और मोक्षविषयक विचार यथावत् समझमें आ सकते हैं।

आत्मवादी भारतीय परम्पराएँ मुख्यतः चार विभागोंमें विभक्त की जा सकती हैं—वैदिक, जैन, बौद्ध और आजीवक।

---

१. दीघनिकायगत ब्रह्मजालसुत्त; संयुत्तनिकाय १२.१७,१२.२४ आदि। विशेष विवरणके लिये देखो—न्यायावतारवार्तिकवृत्तिकी प्रस्तावना पृ.७-८।

इनमेंसे आजीवक परम्पराका इतिहास लम्बा होनेपर भी उसका स्वतंत्र कहा जा सके ऐसा साम्प्रदायिक साहित्य उपलब्ध नहीं है। उसके मन्तव्य तो मिलते हैं, पर वे खण्डित और इतर परम्पराओंके साहित्यमें संगृहीत रूपसे ही।[1] अतः यहाँ पर अवशिष्ट तीन परम्पराओंको मुख्य रखकर उनके मोक्षविषयक विचार जाननेका हम प्रयत्न करेंगे।

इस समय वैदिक परम्परामें समाविष्ट मुख्य दर्शन छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा इस समय भले ही उपनिषद् आदि मोक्षवादी विचारोंका आदर करती हो, पर मूलमें वह कर्ममीमांसा है और कर्मके फलके तौरपर स्वर्गसे इतर उच्च आदर्श या ध्येयका विचार नहीं करती। इसलिए मोक्षस्वरूपविषयक मान्यताएँ हमें मुख्यतः बाकीके पाँच दर्शनोंके साहित्यमें ही मिलती हैं।

प्रमेयतत्त्वके स्वरूपके विषयमें, और उसमें भी ख़ास तौरपर आत्मतत्त्वके स्वरूपके विषयमें, जितना और जैसा विचारभेद उतना और वैसा ही विचारभेद मोक्षके स्वरूपके बारेमें भी फलित होनेका ही। इसी वजहसे हम एक ही वैदिक परम्परामें आत्मतत्त्वके स्वरूपके बारेमें सर्वथा भिन्न-भिन्न और बहुत बार तो विरुद्ध प्रतीत हों ऐसी कल्पनाएँ देखते हैं; इतना ही नहीं, पर मात्र औपनिषद या ब्रह्मसूत्रजीवी शाखाओंकी मान्यताओंमें भी मोक्षके स्वरूपकी कल्पनाएँ जुदी-जुदी देखते हैं।

वैदिक माने जानेवाले दर्शनोंकी जीवात्मा तथा परमात्माके स्वरूपकी मान्यताएँ उपर्युक्त रूपसे भिन्न होनेपर भी उन सभी

---

१. देखो History and Doctrines of Ajivakas by A. L. Basham.

मान्यताओंमें एक लक्षण समान दृष्टिगोचर होता है और वह है आत्मतत्त्वकी कूटस्थनित्यताका। कोई जीवात्मा और परमात्माका भेद माने या कोई सर्वथा अभेद माने या भेदाभेद माने; इसी तरह कोई आत्माको विभु माने या अणु तथा कोई आत्माका बहुत्व स्वीकार करे या कोई न करे, फिर भी वे सब आत्मतत्त्वको किसी-न-किसी रूपमें कूटस्थ ही मानते हैं और उसी पक्षका समर्थन करते हैं। इतनी समान भूमिका है सही, पर दूसरी बहुत-सी बातोंमें उन दर्शनोंके बीच मतभेद होनेसे मोक्षके स्वरूपके बारेमें उनमें प्रबल मान्यताभेद चला आ रहा है। हम यहाँपर उसे सक्षेपमें देखें।

कणादका वैशेषिकदर्शन और उसका अनुसरण करनेवाला अक्षपादका न्यायदर्शन ये दोनों आत्माके स्वरूपके बारेमें एकमत हैं। दोनों आत्माको कूटस्थनित्य तथा देहभेदसे भिन्न मानते हैं, और अपवर्ग या मुक्ति भी स्वीकार करते हैं। कपिलका सांख्य-दर्शन और उसका अनुगामी योगदर्शन देहभेदसे आत्मभेद माननेके अतिरिक्त आत्माका कूटस्थनित्यत्व स्वीकार करते हैं। इसमें यदि अपवाद है तो वह इतना ही कि चौबीस तत्त्व माननेवाला सांख्यका प्राचीन स्तर प्रकृतिसे भिन्न पुरुषोंके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता। इससे वह जीवतत्त्व, पुनर्जन्म और मोक्ष आदिकी विचारसरणी प्रकृतितत्त्वमें घटाता था। वह प्रकृतितत्त्वको कूटस्थनित्य नहीं, किन्तु परिणामिनित्य मानता था, ऐसा प्राचीन वर्णनसे प्रतीत होता है। औपनिषद दर्शनकी अनेक शाखाएँ हैं जिनमें शांकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ आदि मुख्य हैं। ये सभी शाखाएँ उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीताका समान भावसे आधार लेती हैं, फिर भी उन आधारोंके तात्पर्यमें उनका मतभेद है। शांकर केवलाद्वैतवादी और एक अखण्ड ब्रह्मतत्त्ववादी है तथा

ब्रह्मतत्त्वको कूटस्थनित्य स्वरूप मानता है, जब कि रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी होनेसे ब्रह्मतत्त्वसे कुछ भिन्न ऐसे जड़ और चेतन जीवतत्त्वको भी वास्तविक मानता है। मध्व तो न्याय-वैशेषिककी भाँति सर्वथा द्वैतवादी होनेसे जीवात्माओंके बहुत्व और उनके पारमार्थिक अस्तित्वको स्वीकार करता है। फ़र्क हो तो इतना ही कि वह रामानुजकी तरह जीवको अणुरूप मानकर उसका कूटस्थनित्यत्व घटाता है। मध्व ब्रह्म या विष्णु तत्त्वको तो जीवसे भिन्न, कूटस्थनित्य और विभु मानता है। वल्लभ ब्रह्म-तत्त्वको विभु मानकर उसके परिणामरूपसे ही जीव एवं जगत्‌का वर्णन करता है। ऐसा परिणाम स्वीकार करनेसे परब्रह्ममें परिणा-मित्वकी आनेवाली आपत्तिको दूर करनेके लिए वह ब्रह्मको अवि-कृत-परिणामी कहता है; अर्थात् परिणामि होनेपर भी ब्रह्ममें विकार नहीं होता। इस तरह वल्लभ सांख्यकी प्रकृतिका परिणामित्व ब्रह्मतत्त्वमें मानकर भी उसे अविकृत-परिणामि कहकर कूटस्थ-नित्यत्वका दूसरे ही प्रकारसे समर्थन करता है।[1]

आत्मतत्त्वविषयक वैदिक दर्शनोंकी मान्यताओंका ऊपर जो संक्षेपमें उल्लेख किया है वह इतना समझानेके लिए कि वैदिक दर्शनोंमें कूटस्थनित्यवाद किस-किस तरह और किस-किस अंशमें समर्थित होता रहा है। अब हम यह देखेंगे कि कैसे-कैसे स्वरूपभेद तथा कल्पनाभेदके कारण मोक्षके स्वरूपके विषयमें इन वैदिक दर्शनोंके मन्तव्योंमें फ़र्क पड़ता है तथा भिन्नता आती है।

वैदिक दर्शनोंकी मान्यताओंमें आत्माके स्वरूपके विषयमें जो सर्वप्रथम ध्यान देने जैसा फ़र्क है वह चैतन्यविषयक है।

---

१. विशेष विवरणके लिए देखो श्री० गो० ह० भट्टकृत ब्रह्मसूत्र-अणु-भाष्यके गुजराती अनुवादकी प्रस्तावना तथा गणधरवादकी प्रस्तावना-में आत्मतत्त्वविचार पृ० ८६-६१।

न्याय और वैशेषिक दोनों आत्माको चेतन कहते हैं, पर उनके मतसे चैतन्य साहजिक नहीं किन्तु आगन्तुक है। शरीर, इन्द्रिय और मन आदिका जबतक सम्बन्ध रहता है तभी तक उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान आत्मामें होते हैं। ऐसे ज्ञानोंको धारण करनेकी शक्ति अर्थात् उपादानकारणता ही उनके मतमें चैतन्य है। परन्तु ऐसी कोई साहजिक चेतना वे नहीं मानते जो शरीर, इन्द्रिय आदिके सम्बन्धके बिना भी ज्ञानगुण रूपसे या विषय-ग्रहण रूपसे प्रकाशित या स्फुरित होती रहे। न्याय-वैशेषिक दर्शनकी इस कल्पनासे इतर वैदिक दर्शनोंकी कल्पना सर्वथा भिन्न है। सांख्य-योग या औपनिषद दर्शनोंमेंसे ऐसा दूसरा कोई भी वैदिक दर्शन नहीं है जो न्याय-वैशेषिककी भाँति आत्मामें चैतन्य मात्र आगन्तुक मानता हो। वे सभी दर्शन, फिर चाहे वह अणु-जीववादी हो अथवा विभुपुरुषवादी हो या विभुपरब्रह्मवादी हो, आत्मतत्त्वमें सहज चेतना मानते हैं और जब शरीर, इन्द्रिय, मन आदिका सम्बन्ध न हो तब विदेहमुक्त दशामें भी ऐसी चेतनाका अनावृत विकास अथवा ज्ञानस्फुरण स्वीकार करते हैं। ऐसा होनेसे उनकी मोक्षस्वरूपकी कल्पनामें बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ऐसा कहते हैं कि मोक्ष अर्थात् सुख-दुःख-ज्ञान-इच्छा-द्वेष आदि सभी गुणोंका आत्यन्तिक उच्छेद। उनके मतसे मोक्ष इसीलिए परमपुरुषार्थ है कि उसमें किसी भी प्रकारके दुःख या दुःखके कारणका अस्तित्व नहीं रहता। वे मोक्षकी उपासना इसलिए नहीं करते कि उसके प्राप्त होनेपर उसमें किसी चैतन्य या सुख जैसे सहज और शाश्वत गुणका अनुभव हो। उनका मोक्ष अर्थात् सहभू अमुक गुणोंके अतिरिक्त बाकीके सभी ज्ञान-सुख-दुःख आदि जन्यगुणोंका सदाके लिए

अन्त[1]। जब दूसरे दार्शनिक ऐसे ज्ञान या चैतन्य और सुख या आनन्दविहीन मोक्षकी उपासनामें पाषाणवत् जड़ उपासनाका आक्षेप न्याय-वैशेषिकके ऊपर करते हैं तब वे व्यावहारिक अनुभवके बलपर एक ही समाधान देते हैं कि सच्चा साधक पुरुषार्थी केवल अनिष्टके परिहारके लिए ही प्रयत्न करता है। ऐसा परिहार ही उसका सुख है या आनन्द है। इसके सिवाय मोक्षस्थितिमें भावात्मक चैतन्य या आनन्दको माननेमें युक्तिका कोई आधार नहीं है। इस तरह न्याय-वैशेषिक दर्शनमें मोक्ष अर्थात् नित्य या अनित्य सुख-दुःखरहित केवल द्रव्यरूपसे आत्मतत्त्वकी अवस्थिति।

अब सांख्य-योग दर्शनोंको लेकर विचार करें। ये दोनों निष्ठाएँ प्रकृतिसे भिन्न ऐसे पुरुषको स्वतःसिद्ध चेतनारूप मानती हैं। वे पुरुषमें न्याय-वैशेषिककी भाँति किसी भी आगन्तुक या जन्य-गुणका अस्तित्व किंवा स्पर्शतक नहीं मानतीं। जो पुरुषरूप है वह अपरिणामी अखण्ड चेतना या चैतन्यमात्र है और सर्वथा कूटस्थनित्य होनेसे उसमें वास्तविक संसार-दशा भी नहीं है। बन्ध अर्थात् संसार और मोक्ष ये दोनों वस्तुतः प्रकृतिकी अवस्थाएँ हैं[2]। इन अवस्थाओंका पुरुषमें आरोप या उपचार होता

---

१. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।

—न्यायसूत्र १.१.२२ तथा भाष्य

तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः।
गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः॥

—न्यायमंजरी, पृ० ५०८

२. तस्मान्न बध्यते नाऽपि मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

—सांख्यकारिका ६२

है इतना ही । जिस तरह आकाशमें उड़नेवाला पक्षी स्वच्छ पानीमें उड़ता दिखाई देता है सो मात्र प्रतिबिम्बके कारण ही, उसी तरह प्रकृतिके बन्ध और मोक्ष पुरुषमें व्यवहृत होते हैं तो वे सिर्फ परस्परके विशिष्ट सान्निध्यके कारण ही । इससे जब प्रकृतिमें उसका बुद्धि, अहंकार आदि कार्यप्रपंच पुनः सिमट जाता है और मोक्षस्थिति आती है तब प्रकृतिका मोक्ष यानी विसदृश परिणामपरम्पराकी शून्यता अथवा केवल सदृश परिणामपरम्पराका सातत्य। जब प्रकृतिकी ऐसी स्थिति होती है तब उपचारसे पुरुष भी मुक्त कहा जाता है । अतएव उसकी मुक्ति अर्थात् द्रष्टाका—साक्षीमात्र चेतनका स्वरूपमें अवस्थान यानी नित्य, शुद्ध ऐसे कूटस्थ चैतन्यका प्राकृतिक छायापत्तिरहित अवस्थान[1] । सांख्य-योगसम्मत यह मुक्तिस्वरूप न्याय-वैशेषिक सम्मत मुक्तिस्वरूपसे एक प्रकारसे जुदा पड़ता है तो दूसरे प्रकारसे उसके साथ मिलता भी है । जुदा इस अर्थमें पड़ता है कि न्याय-वैशेषिक आत्माको सांख्य-योगकी भाँति द्रव्यरूप मानते हैं, फिर भी उसे सर्वथा निर्गुण तथा आगन्तुक गुणशून्य नहीं मानते, जब कि सांख्य-योग आत्माको सर्वथा निर्गुण मानते हैं । इससे पहलेके मतके अनुसार आत्माका स्वरूप द्रव्यरूप होनेपर भी चेतनामय नहीं है, जब कि दूसरेके मतके अनुसार उसका स्वरूप ही केवल स्वतःप्रकाशमान चेतनारूप है । अतः न्याय-वैशेषिक मतमें मुक्तिदशामें चैतन्यके स्फुरण या अभिव्यक्ति जैसे व्यवहारके लिए अवकाश

---

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।

—योगसूत्र ४.३४

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥

—सांख्यकारिका ६५

ही नहीं है जब कि सांख्य-योग मतमें ऐसा व्यवहार प्रामाणिक है। न्याय-वैशेषिकसम्मत मुक्तिमें बुद्धि-सुख आदि गुणोंका आत्यन्तिक उच्छेद होनेसे आत्माका केवल कूटस्थनित्य द्रव्य-रूपसे ही अस्तित्व माना जाता है, तब सांख्य-योग मतमें केवल चेतना रूपसे--निर्गुण स्वरूपसे अर्थात् सहजभावसे ही उसका अस्तित्व माना जाता है। ऐसा होनेपर भी एकके मतसे मुक्ति-दशामें चैतन्य या ज्ञानका अभाव तो दूसरेके मतसे उसका सद्भाव--यह एक बड़ा अन्तर मालूम होता है, पर इन दोनों पक्षोंकी पारिभाषिक प्रक्रियाका भेद ध्यानमें रखें तो तात्त्विक रूपसे दोनों पक्षोंकी मान्यतामें कोई महत्त्वका अन्तर नहीं रहता। शरीर-इन्द्रियादि सम्बन्ध सापेक्ष बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष आदि गुणोंका आत्यन्तिक उच्छेद माननेवाले न्याय-वैशेषिकदर्शन संसारदशामें इन गुणोंका अस्तित्व आत्मामें स्वीकार करते हैं, अतः मुक्तिकालमें वे इनके आत्यन्तिक उच्छेदकी परिभाषाका ही प्रयोग कर सकते हैं; जब कि सांख्य-योगदर्शन सुख-दुःख-ज्ञान-अज्ञान-इच्छा-द्वेष आदि भाव पुरुषमें न मानकर सात्त्विक बुद्धि-तत्त्वमें मानते हैं और उसकी पुरुषमें पड़नेवाली छायाको ही आरोपित संसार कहते हैं। अतः वे जब मुक्तिदशामें सात्त्विक बुद्धिका उसके भावोंके साथ प्रकृति अर्थात् मूल कारणमें आत्य-न्तिक विलय मानते हैं तब पुरुषमें प्रथम व्यवहृत सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष आदि भावों और कर्तृत्वकी छायाका भी आत्यन्तिक अभाव ही स्वीकार करते हैं। एक पक्ष आत्मद्रव्यमें गुणोंका उपादान-कारणत्व स्वीकार करके विचार करता है तो दूसरा पक्ष पुरुषमें ऐसा कुछ भी माने बिना प्रकृतिके प्रपंचद्वारा सारा विचार-व्यवहार करता है। इस तरह पहला पक्ष द्रव्य और गुणादिके भेदको वास्तविक मानता है, तो दूसरा पक्ष वैसे भेदको आरोपित समझता है।

परन्तु चौबीस तत्त्ववादी प्राचीन सांख्यपरम्पराकी बन्धमोक्ष-प्रक्रिया पचीस तत्त्ववाली सांख्यपरम्परासे जुदी पड़ेगी ही। वह बुद्धिसत्त्व और उसमें उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-ज्ञान-अज्ञान आदि भावोंका आत्यन्तिक विलय मूलकारण प्रधानमें मानकर मोक्षकालमें ब्रह्मभाव या मुक्तस्वरूपका वर्णन करेगी, पर ऐसा नहीं कि मुक्तात्मा यानी केवल चेतना, क्योंकि इसमें प्रकृतिसे भिन्न चेतनाके लिए अवकाश ही नहीं है। चौबीस तत्त्ववादी सांख्य और न्याय-वैशेषिककी मान्यताके बीच भी बहुत साम्य है। पहला पक्ष मोक्षदशामें प्रकृतिके कार्यप्रपंचका अत्यन्त विलय मानता है, जब कि दूसरा पक्ष भी मुक्तिदशामें आत्माके गुणप्रपंचका अत्यन्त अभाव मानता है। पहलेका कार्यप्रपंच ही दूसरेका गुणप्रपंच है। शेष बाक़ी रहनेवाले प्रधान और आत्माके स्वरूपमें जो कुछ थोड़ा फ़र्क रहता है वह सिर्फ़ परिणामिनित्यत्व और कूटस्थनित्यत्वके ऐकान्तिक परिभाषाभेदके कारण।

•

ज्ञान-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष आदि गुणोंका उत्पाद और विनाश आत्मामें वास्तविक तौरपर होता है ऐसा माननेपर भी न्याय-वैशेषिकदर्शन आत्माका तनिक भी अवस्थान्तर न हो ऐसे अर्थमें कूटस्थनित्य रूपसे जो वर्णन करते हैं वह कुछ आश्चर्यजनक लग सकता है, परन्तु इसका रहस्य उसके भेदवादमें है। न्याय-वैशेषिकदर्शन गुण-गुणीका अत्यन्त भेद मानते हैं, अतः जब गुण उत्पन्न या विनष्ट होते हैं तब भी उनके उत्पाद-विनाशका स्पर्श उनके आधारभूत गुणी द्रव्यमें वे नहीं होने देते; और यह अवस्थाभेद तो गुणोंका है, न कि गुणीका ऐसा कहते हैं। इसी तरह वे आत्माको कर्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त वास्तविक रूपसे मानते हैं और फिर भी अवस्थाभेदकी आपत्ति युक्ति-प्रयुक्तिसे टालकर कूटस्थनित्यत्वकी मान्यतासे चिपके रहते हैं। सांख्य-

योगदर्शन न्याय-वैशेषिककी भाँति गुण-गुणीका भेद नहीं मानते, अतः न्याय-वैशेषिककी भाँति गुणोंका उत्पाद-विनाश मानकर पुरुषके कूटस्थनित्यत्वकी रक्षा करना उनके लिए अप्रस्तुत है। इसलिए उन्होंने दूसरा रास्ता अपनाया। वह रास्ता यानी निर्गुण-पुरुष माननेका।[1] ऐसा होनेसे उन्होंने कर्तृत्व-भोक्तृत्व, बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाएँ पुरुषमें उपचरित मानीं और कूटस्थनित्यत्व पूर्णतः घटा लिया।

केवलाद्वैती शंकर या अणुजीववादी रामानुज तथा वल्लभ ये सब मुक्तिदशामें चैतन्य और आनन्दका पूर्ण प्रकाश अथवा आविर्भाव अपनी-अपनी प्रणालिकाके अनुसार स्वीकार करके कूटस्थनित्यत्व घटा लेते हैं। एक तरहसे देखें तो औपनिषद दर्शनोंकी कल्पना सांख्य-योगकी कल्पनाके साथ अधिक मिलती-जुलती है, नहीं कि न्याय-वैशेषिकदर्शनकी कल्पनाके साथ; क्योंकि सभी औपनिषददर्शन मुक्तिदशामें सांख्य-योगकी भाँति शुद्ध चेतना रूपसे ब्रह्मतत्त्व या जीवतत्त्वका अवस्थान मानते ही हैं।

अब हम बौद्धपरम्परासम्मत निर्वाणके स्वरूपके बारेमें विचार करें। बौद्ध-परम्पराकी शाखाएँ और निकाय अनेक हैं। उनमेंसे अतिप्रसिद्ध कही जा सकें ऐसी चार शाखाएँ उल्लेखयोग्य हैं—(१) प्राचीन बौद्ध और वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) माध्यमिक या शून्यवादी, और (४) योगाचार या विज्ञानवादी।

---

१. अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्राऽवस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥
—गीता १३.३१-३२

इन चार शाखाओं और उनके अवान्तर भेदोंमें निर्वाणके स्वरूपके बारेमें जो परस्पर विरोधी और बहुत बार तो गूढ़ या जटिल कल्पनाएँ हुई हैं उन सबको यथावत् समझनेका कार्य किसी भी तरह किसीके लिए सुगम प्रतीत नहीं होता; फिर भी रूसी प्रोफ़ेसर श्चेरबात्स्कीने The Conception of Buddhist Nirvana नामक अपने ग्रन्थमें बौद्ध-निर्वाण-विषयक विचारणाओंको स्पष्ट करनेका भगीरथ प्रयत्न किया है। पालि और संस्कृत लभ्य सभी ग्रन्थोंके अतिरिक्त तिब्बती, चीनी और जापानी भाषामें लिखे हुए बौद्ध ग्रन्थोंके परिशीलनके आधारपर इस विद्वान्ने बौद्ध-निर्वाणकी कल्पनाओंका ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे निरूपण करनेका तथा समझानेका प्रयत्न किया है। इस विद्वान्के उपर्युक्त ग्रन्थके आधारपर तथा कतिपय पालि एवं संस्कृत बौद्ध ग्रन्थोंके वाचन और परिशीलनके आधारपर बौद्ध-निर्वाणके बारेमें मैं जो कुछ समझा हूँ उसका अतिसंक्षेपमें यहाँपर निर्देश करना स्थानप्राप्त है।

पिटकवादी प्राचीन बौद्ध और व्याख्यावादी वैभाषिक मध्यम-प्रतिपदाका अनुसरण करके स्थिर द्रव्यका इन्कार करते रहे और क्षणिक धर्मोंको सत् मानकर उन्हें संस्कृत कहते रहे; साथ ही वे आकाश एवं निर्वाण ये दो असंस्कृत तत्त्व भी मानते रहे। वे पुद्गलनैरात्म्यवादी हैं, क्योंकि क्षणिक धर्मोंकी परम्परामें पुद्गल अर्थात् जीव नामके किसी स्थिर द्रव्यका अस्तित्व वे स्वीकार नहीं करते हैं—असंस्कृत निर्वाण अर्थात् कार्यकारणभाव या प्रतीत्यसमुत्पादके नियमके अनुसार उत्पन्न नहीं ऐसा निर्वाण। परन्तु ऐसा निर्वाण माननेपर भी उस दशाका कोई भावात्मक चित्र उन्होंने नहीं खींचा। वे इतना ही कहकर छुट्टी पा लेते हैं कि दुःख और दुःखहेतु अर्थात् समुदय इन दोनोंका अन्त ही

निर्वाण है। परन्तु जान पड़ता है कि इतर स्थिरात्मवादी दार्शनिकोंने जब आक्षेप किया कि तुम्हारा यह निर्वाण तो मात्र अभावात्मक है, तब क्या ऐसा समझना कि बुद्धने निर्वाण प्राप्त किया इसका अर्थ वे अभाव रूप बने ? कुछ तो ऐसे आक्षेपके उत्तररूपसे और कुछ स्वयं संगति बिठानेके परिणामरूपसे वैभाषिकोंने निर्वाणका स्वरूप ऐसा उपस्थित किया कि जो केवल अभावरूप नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा कि दुःख और उसके कारणके उच्छेदसे जो असंस्कृत निर्वाण समझा जाता है वह सिर्फ़ अभावात्मक नहीं है, पर एक भावात्मक तत्त्व हैं। उन्होंने इस तरह निर्वाण या निरोध सत्यको दुःखोंके अभावसे उपलक्षित एक असंस्कृत भावतत्त्वरूप सूचित किया। उनकी यह मान्यता या कल्पना बहुत कुछ अंशोंमें न्याय-वैशेषिकसम्मत अपवर्गकी कल्पनासे मिलती-जुलती है। आश्चर्य नहीं कि इस बातमें प्राचीन बौद्धोंपर न्याय-वैशेषिक मान्यताका असर पड़ा हो।

बुद्धने निर्वाणको अव्याकृत कहा था और उसका कोई स्पष्ट निरूपण नहीं किया था। दूसरी तरफ़ आस-पासके इतर दार्शनिक निर्वाणके स्वरूपका अपने-अपने ढंगसे स्पष्ट निरूपण करते थे। इससे बौद्ध विचारकोंको भी निर्वाणके बारेमें कुछ-न-कुछ अपने ढंगसे निरूपण किये बिना चैन कैसे पड़ सकता था ? इस बारेमें बुद्धके कथनका कोई निर्विवाद आधार सम्मुख न होनेसे बौद्ध विद्वान् कल्पना करनेमें स्वतंत्र थे। उन्हें एक तरफ़से अपनी बौद्ध प्रणाली बचानेकी चिन्ता और दूसरी तरफ़से दार्शनिकोंके आक्षेपोंका संगत उत्तर देनेकी चिन्ता। इस मानसिक संघर्षने बौद्ध-परम्परामें अनेक विद्वानोंको भिन्न-भिन्न तरहकी कल्पना करनेके लिए प्रेरित किया। उनमेंसे, जिसमें महासांघिक वात्सीपुत्रीय आदि थे ऐसी हीनयान शाखाकी ओर अभिरुचि रखनेवाले कुछ लोग सौत्रा-

न्तिक रूपसे अलग पड़े। ये प्रारम्भिक सौत्रान्तिकके नामसे पहचाने जाते हैं। इन्होंने निर्वाण-दशामें सूक्ष्म रूपसे चैतन्य माना और कहा कि निर्वाण-दशामें सिर्फ़ दुःखका अभाव ही नहीं है, पर सांसारिक जीवनसे रहित सूक्ष्म चैतन्यका सद्भाव भी है। यह एक नया क़दम था, जो आक्षेपकारी इतर दार्शनिक एवं अन्तर्गत बौद्ध चिन्तकोंको भी सन्तोष दे सके ऐसा था, पर सौत्रान्तिक यहींपर ही न रुके। उनमें ऐसे भी प्रगतिशील विचारक आये जिन्होंने साहसपूर्वक कह दिया कि निर्वाण संसारसे पृथक् कोई सत्य नहीं है। उनकी दृष्टिमें अब बुद्ध केवल मनुष्यरूप ही न थे, पर एक मनुष्योत्तर दिव्य रूप थे। ऐसा बुद्ध कभी नष्ट नहीं होता। उन्होंने इसके लिए 'धर्मकाय' शब्दका प्रयोग किया और कहा कि ऐसा धर्मकाय अर्थात् लोकोत्तर बुद्ध तो शाश्वत है और सजीव विश्वप्रवाह उसका शरीर है। यह कल्पना कुछ-कुछ सांख्य-योगकी कल्पनाके अनुरूप है, क्योंकि सांख्य-योगदर्शन भी प्रवाह-शील प्रकृतिप्रपंचको मानकर उसके पीछे तटस्थ आधाररूप पुरुष-तत्त्वको स्वीकार करती है।

प्रगतिशील सौत्रान्तिक वस्तुतः महायान मार्गके पुरस्कर्ता ही हैं। उनकी उपर्युक्त कल्पनामेंसे सहज ही विज्ञानवाद—योगाचार अस्तित्वमें आया। विज्ञानवादने आगे बढ़कर यह कह दिया कि धर्मकायरूपसे आलयविज्ञान ही एकमात्र पारमार्थिक है और उसके अतिरिक्त उसपर भासित होनेवाला सारा इन्द्रिय, मन, विषय आदिका प्रपंच केवल अविद्याकल्पित है। विज्ञानवादीके मतसे आलयविज्ञानरूपसे धर्मकाय ही पारमार्थिक सत् और वही लोकोत्तर बुद्ध या निर्वाण है। सौत्रान्तिकोंकी दृष्टिसे सजीव विश्वप्रवाह और अन्तर्गत चैतन्य दोनों सम्मिलित रूपसे सत् थे तो विज्ञानवादीके मतसे मात्र आलयविज्ञानरूपसे निर्वाण ही

पारमार्थिक सत् रहा और उससे भिन्न विश्वप्रपंचका मिथ्यात्व माना गया। विज्ञानवादकी यह मान्यता औपनिषद अद्वैतवादसे मिलती है; क्योंकि, भिन्न-भिन्न रूपसे ही सही, दोनोंमें एकमात्र विज्ञान अर्थात् चैतन्यका पारमार्थिकत्व माना गया है। विज्ञानवादने प्रवृत्तिविज्ञान और उसके विषयोंका मिथ्यात्व स्थापित किया और इस तरह माध्यमिक शून्यवादकी नई भूमिका निर्मित की। नागार्जुन जैसे प्रबल शून्यवादी तार्किकने कह दिया कि ऐसा आलयविज्ञान भी तर्कग्राह्य नहीं है। जो भाषा एवं तर्ककी मर्यादामें अथवा देशकालकी सांकेतिक परिभाषामें प्रतिपादित है वह सापेक्ष होता है, अतः सब कुछ स्वभावशून्य है। स्वभावसत् अथवा पारमार्थिकसत् तो योगीज्ञान या परमप्रज्ञाका विषय है। उसमें कोई दैशिक या कालिक खण्ड है ही नहीं। अतएव वही सच्चा निर्वाण है। शून्यवादका यह दर्शन केवलाद्वैतीके निर्गुण ब्रह्मवाद जैसा है। एकमें निषेधांश प्रधान है तो दूसरेमें निषेधके साथ विधि-अंश भी है। इस तरह बुद्ध भगवान्‌के निर्वाणविषयक अव्याकृतवादके कारण निर्वाणके बारेमें अनेक कल्पनाएँ अस्तित्वमें आईं। ये कल्पनाएँ किसी-न-किसी दूसरे दर्शनके साथ मिलती भी हैं।

अब जैनदर्शनको लेकर विचार करें। जैन-परम्परा प्रारम्भसे निर्ग्रन्थ-परम्पराके नामसे प्रसिद्ध है। बुद्धके पहले भी इस परम्पराका अस्तित्व था। इसी परम्परामें महावीर हुए। महावीरको तत्त्वज्ञान एवं आचारकी विरासत पूर्ववर्ती पार्श्वनाथकी परम्परा द्वारा ही प्राप्त हुई है। इस समय हमारे पास जो ऐतिहासिक ज्ञान-सामग्री है वह इतना ही जताती है कि जैन-परम्पराकी तत्त्वज्ञान एवं आचारविषयक जो मौलिक मान्यताएँ हैं वे या तो महावीर द्वारा निरूपित हैं या उनके द्वारा समर्थित हैं। महा-

वीरके शासनमें अबतक अनेक गच्छ और शाखाओंके भेद पड़े हैं। इनमें आज प्रधान रूपसे कहे जा सके ऐसे चार फ़िर्के मौजूद हैं—श्वेताम्बर, दिगंबर, स्थानकवासी और तेरापंथ। इनमेंसे पहलेके दो प्राचीन हैं जब कि पीछेके दो क्रमशः अर्वाचीन और अर्वाचीनतर। इन चारों फ़िर्कोंमें तत्त्वज्ञानके मुख्य-मुख्य सिद्धान्तोंमें किसी भी तरहका मतभेद नहीं है। जो मतभेद है वह तो खास तौरपर आचारकी व्यावहारिक प्रणालियोंके बारेमें तथा उपासनाके विषयमें है। मोक्ष और निर्वाणकी कल्पना तो जैन-परम्पराकी नीव ही है। इसके तात्त्विक स्वरूपके बारेमें जैन-परम्पराकी सभी शाखाएँ पूर्ण रूपसे एकमत हैं। वैदिक दर्शनोंमें तथा बौद्ध-परम्पराकी शाखाओंमें मोक्षके स्वरूपके बारेमें जो मत-भेद है वह ऊपर दिखाया गया है। उसके साथ जैन-परम्पराकी सभी शाखाओंमें मतभेदरहित अथवा एक ही प्रकारके मोक्षके स्वरूपकी तुलना करें तो तनिक आश्चर्यके साथ प्रश्न होता है कि जैनेतर-परम्पराओंकी शाखाओंका जब आपस-आपसमें इतना मतभेद है तब जैन-परम्पराकी शाखाओंमें कुछ भी मतभेद नहीं, तो इसका कारण या रहस्य क्या है? इसका उत्तर यहाँपर अप्रासंगिक न होगा।

ऋग्वेद आदिके मंत्रोंमें कहींपर भी मोक्षके स्वरूपकी चर्चा दिखाई नहीं पड़ती। अलबत्ता, वेदान्त—उपनिषदोंमें मोक्षका स्वरूप जतानेवाले वचन हैं ही। इन वचनोंका आधार लेकर भिन्न-भिन्न आचार्योंने अपनी-अपनी परम्परा, कल्पना एवं तर्कशक्तिके बलपर मोक्षके स्वरूपका भिन्न-भिन्न रूपसे निरूपण किया है। ऐसा होने-पर भी सबका वैदिक परम्परामें समावेश होता है तो उसका एक-मात्र कारण वेदोंका एक या दूसरे रूपमें प्रामाण्य मानना है। वेदों-का प्रामाण्य मान्य रखनेपर दूसरी सभी बातोंमें विचार एवं तर्क-

स्वातंत्र्यके लिए वैदिक परम्परामें पूर्ण अवकाश है। इसी तरह बौद्ध-परम्परामें विचार एवं तर्क-स्वातन्त्र्यके लिए सम्पूर्ण अवकाश रहा है। यद्यपि बौद्धशास्त्र वेदोंकी भाँति अपौरुषेय या ईश्वरप्रणीत नहीं माने जाते, किन्तु जैनशास्त्रोंकी भाँति मनुष्यकृत ही माने जाते हैं, फिर भी बुद्धने स्वयं ही अपने सर्वज्ञत्वका निषेध किया था और अपने वचनोंको भी परीक्षा करके ही माननेको कहा था, जब कि महावीरकी स्थिति इससे भिन्न है। प्राप्त उल्लेखोंके आधारपर महावीरने स्वयं ही अपनेको त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ कहा है, और साथ ही सर्वज्ञभाषितमें निःशंक रहनेपर अधिक ज़ोर दिया गया है। इस कारण बौद्ध-परम्परामें विचार एवं तर्कका जितना स्वातंत्र्य खिला है उतना जैन-परम्परामें नहीं खिला। जो विचारक और तार्किक आचार्य जैन परम्परामें हुए उन सबको आगमोंमें उल्लिखित मोक्षके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले वचनोंमेंसे फलित होनेवाले सीधे अर्थका ही निरूपण करना था और उसे ही अधिक विशद करना था, और ऐसे वचनोंमेंसे सीधे तौरपर फलित न होनेवाले भावका प्रतिपादन करनेकी तो गुंजाइश ही पहलेसे नहीं थी। इसीसे और मुख्यतः इसीसे जैन-परम्पराके तत्त्वज्ञानके अन्य सिद्धांतोंकी भाँति मोक्षके स्वरूपके बारेमें भी पूर्ण ऐक्यमत्य देखा जाता है।[१]

जैनदर्शन परिणामिनित्यताके सिद्धान्तको मानता है, पर वह सांख्य-योग दर्शनकी भाँति उस सिद्धान्तको केवल जड़ या अचेतन तत्त्व तक ही मर्यादित नहीं रखता। जैनदर्शन चेतन, जीव या आत्मद्रव्यको भी परिणामिनित्य मानता है। उसकी यह परिणामि-

१. वैदिक परम्परा आगमवादी तो है ही, पर जिन उपनिषदोंके आधारपर मोक्षके स्वरूपका निरूपण किया जाता है वे उपनिषद् किसी एक ही कर्ताके नहीं माने जाते, जब कि जैन-परम्पराके आगमोंका मूल एकमात्र भगवान् महावीरका उपदेश माना जाता है।

नित्यता द्रव्यके अतिरिक्त उसकी सहभू शक्तियोंतक फैली हुई है। इससे जैनदर्शन आत्मद्रव्यको न्याय-वैशेषिक आदिकी भाँति विभु नहीं मानता और रामानुज आदिकी भाँति अणुपरिमाण भी नहीं मानता। वह तो उसे मध्यमपरिमाण मानकर उसका संकोच-विस्तार भी स्वीकार करता है। वह कहता है कि चींटी जैसे सूक्ष्म जन्तुओंमें जीव उनकी देह जितना होता है तो हाथी जैसे प्राणीमें वही जीव जब जन्म लेता है तब उसकी देह जितना बनता है। इस तरह शरीरके संकोच-विस्तारके अनुसार संसारी जीवका भी संकोच-विस्तार होता है। यह हुई जैनदर्शनके अनुसार द्रव्यकी परिणामिनित्यता, क्योंकि जीव-द्रव्य व्यक्तिरूपसे तो वहीका वही अर्थात् शाश्वत, और परिमाणकी दृष्टिसे उसका क़द परिवर्तनशील अर्थात् परिणामी। इस सिद्धान्तके अनुसार जैनदर्शनने पहलेसे ही ऐसा माना है कि मुक्तिदशामें अर्थात् देहमुक्त स्थितिमें जीव-द्रव्य क़दमें उसके चरमशरीरका प्रायः $\frac{2}{3}$ भाग जितना रहता है। यह मान्यता बाक़ीके सभी भारतीय दर्शनोंकी मान्यतासे बिलकुल भिन्न है, क्योंकि कई दर्शन मुक्त आत्माको विभु ही, तो कई दर्शन अणुपरिमाण ही मानते हैं। कोई-कोई दर्शन उसके मुक्तिकालीन परिमाणके बारेमें कुछ भी स्पष्ट रूपसे नहीं कहते, जब कि जैनदर्शन मध्यमपरिमाणकी मान्यताके अनुसार मुक्तिदशामें आत्मद्रव्यके परिमाणके बारेमें एक सुनिश्चित मान्यता रखता है।

जैनदर्शन मुक्तस्थितिमें सर्वथा आवरणविलयके कारण आत्मद्रव्यके चेतना, आनन्द आदि सहभू अनादि-अनन्त गुण या शक्तियोंका भी सम्पूर्ण और शुद्ध विकास मानता है। यह ज्ञान या सुखानुभवरूप विकास सांख्य-योग अथवा केवलाद्वैतदर्शनकी भाँति चैतन्यकी अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, पर यह विकास चेतना, आनन्द आदि शक्तियोंका विशुद्ध ज्ञान और सुखानुभवरूप सतत

अवस्थान्तरित होनेवाला परिणमन है; अर्थात् जैनदर्शनके अनुसार मुक्त आत्मद्रव्यमें सहभू चेतना-आनन्द आदि शक्तियाँ अनावृत होकर सम्पूर्ण विशुद्ध रूपसे—ज्ञान-सुख आदि रूपसे सतत परिणत होती रहती हैं। वह केवल कूटस्थनित्य नहीं है, अपितु शक्तिरूपसे नित्य होनेपर भी प्रतिसमय होनेवाले नये-नये सदृश परिणाम-प्रवाहके कारण परिणामी भी है। इस तरह जैनदर्शनका मोक्ष-कालीन आत्मस्वरूप दूसरे सभी दर्शनोंसे किसी-न-किसी तरह जुदा पड़ता है। समानता हो तो न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनोंके साथ द्रव्यरूपसे स्थिर रहनेके बारेमें और सांख्य-योग तथा अद्वैत-दर्शनोंके साथ सहभू गुणकी अभिव्यक्ति या प्रकाशके बारेमें। यद्यपि योगाचार या विज्ञानवादी बौद्ध-शाखाके ग्रन्थोंपरसे बहुत स्पष्ट तौरपर फलित नहीं होता, फिर भी ऐसा लगता है कि वे भी मूलमें क्षणवादी हैं, अतः मुक्तिकालमें आलयविज्ञानको विशुद्ध मानकर उसका सतत क्षणप्रवाह मानें तभी बौद्ध मौलिक मान्यता संगत हो सकती है। यदि वे ऐसा मानते हों तो वह जैनदर्शनकी मान्यताके बहुत समीप है।

ऊपर भिन्न-भिन्न दर्शनोंके अनुसार मोक्षके स्वरूपका जो चित्र खींचा है उससे, ऊपर-ऊपरसे देखनेपर, कुछ परस्पर विरोधी मान्यताओंका ख्याल आता है, पर ऐसा मान्यताभेद होनेपर भी एक सर्वसाधारण निर्विवाद मान्यता यह है कि वह स्वरूप वाणी और मनसे अर्थात् तर्क-वितर्कसे अगोचर है। उपनिषद् और जैन-आगमोंमें इस विचारका प्रतिघोष है। ऐसा लगता है कि बुद्धने इस विचारको केन्द्रमें रखकर और उसके स्वरूपको अव्याकृत कहकर इस बारेमें मौन धारण किया है[1]।

---

१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥ तैत्तिरीय उप. २. ४. १.

मुक्त, ब्रह्मभूत या निर्वाणप्राप्त आत्माके स्वरूपके बारेमें थोड़ा जान लेनेके बाद देश और कालके प्रवाहमें विचार करनेके आदी हमारे मनमें एक प्रश्न उठता है कि वे मुक्त जीवात्मा विदेहमुक्ति प्राप्त करनेके बाद रहते हैं किस स्थानमें ? चेतन या अचेतन कोई भी तत्त्व वस्तुतः यदि द्रव्यरूप है तो उसका कोई-न-कोई स्थान होनाही चाहिये। इस प्रश्नने भी आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्तकोंको विचार करनेके लिए प्रेरित किया। इस तरहके विचारके परिणामस्वरूप उन्होंने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तोंके साथ संगत हो ऐसे उत्तर दिये हैं और वे बहुधा एक दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध भी लगते हैं। उदाहरणार्थ, जो आत्मविभुत्ववादी होनेसे

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन।

—बृहदा. ३. ८. ८; ४. ५. १५; कठोप. १. ३. १५.

सव्वे सरा नियट्टन्ति। तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गहिया। ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने। से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमण्डले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किले न सुरभिगन्धे न दुरभिगन्धे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्कडे न मउए न गुरुए न लहुए न सीए न उण्हे न निद्धे न लुक्खे न काउ न रुहे न संगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा। परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जइ। अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि। से न सद्दे न रूवे न गन्धे न रसे न फासे इच्चेयावन्ति त्ति बेमि।

—आचारांगसूत्र १७०-१७१.

इसी भावके बौद्ध उल्लेखोंके लिए देखो मज्झिमनिकाय चूलमालुंक्यसुत्त ६३, संयुत्तनिकाय ४४।

आत्माको सर्वव्यापी मानते हैं उनका उत्तर एक है तो जो आत्माणुत्ववादी या आत्म-मध्यमपरिमाणवादी हैं उनका उत्तर दूसरा है। आत्मविभुत्ववादियोंमें भी कोई अनेकात्मवादी हैं तो कोई एकात्मवादी, अतः उनके उत्तरोंमें भी कुछ-न-कुछ फ़र्क आनेका ही। इसी तरह जो जीवात्मा और नित्यमुक्त परमात्मा इन दोनोंका सर्वथा भिन्न अथवा भिन्नाभिन्न अस्तित्व मानते हैं उनका उत्तर भी कुछ-न-कुछ भिन्न ही होगा।

न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग जिस तरह आत्मविभुत्ववादी हैं उसी तरह आत्मबहुत्ववादी भी हैं। इससे उनके मतके अनुसार विदेहमुक्त आत्माका सांसारिक दशाका क्षेत्र और मुक्त दशाका क्षेत्र जुदा शक्य ही नहीं है। वे तो सिर्फ़ इतना ही कहते हैं कि जब विदेहमुक्ति होती है तब उस आत्माके साथ अनादि अज्ञात कालसे लगे हुए सूक्ष्म शरीरका और उसके फलरूप प्राप्त होनेवाले स्थूल शरीरोंका सम्बन्ध सर्वदाके लिए छूट जाता है इतना ही। जीवात्मा या पुरुष परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, अतः मुक्तिदशामें भी परस्पर भिन्न स्वरूपसे जैसे सर्वव्यापी हैं वैसे ही सर्वव्यापी रहते हैं, पर विशेषता इतनी ही है कि उस समय शरीरका सम्बन्ध बिलकुल नहीं रहता। यद्यपि केवलाद्वैती ब्रह्मवादी भी आत्माका विभुत्व मानते हैं, परन्तु वे न्याय-वैशेषिक आदिकी भाँति जीवात्माका वास्तविक बहुत्व और जीवात्मा एवं ब्रह्मके बीचका वास्तविक भिन्नत्व नहीं मानते। इससे उनका उत्तर न्याय-वैशेषिक आदिके उत्तरकी अपेक्षा भिन्न ही होगा। वे ऐसा कहते हैं कि मुक्त होनेका मतलब सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरणका सर्वथा विलय होना तो है ही, पर ऐसा विलय होते ही उस उपाधिके कारण जीवका ब्रह्मस्वरूपसे जो पृथक्त्व प्रतिभासित होता रहता है वह प्रतिभास अब नहीं होता, और तत्त्वरूपसे जो जीव ब्रह्मस्वरूप

ही था वह, उपाधि दूर होनेपर, केवल ब्रह्मस्वरूप ही अनुभूत होता है। इससे केवलाद्वैती ब्रह्मवादीके अनुसार फलित ऐसा होता है कि जो-जो जीवात्मा साधनाके बलपर मुक्त होते हैं वे सब अन्तमें एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही हैं और उनके बीच भेदक उपाधि न होनेसे उनमें न तो परस्परमें भेद है और न परब्रह्मके साथ भेद। भक्त नरसिंह महेताके शब्दोंमें—'अन्ते हेमनुं हेम होये।'[1] अर्थात् अन्तमें सोनेका सोना ही रहता है।

अणुजीवात्मवादी वैष्णव-परम्पराओंको कुछ दूसरी ही कल्पना करनी पड़ी है। रामानुज जैसे विशिष्टाद्वैती, जो वास्तविक

---

१. सारा पद इस प्रकार है—

वेद तो राम वदे श्रुति-स्मृति शाख दे कनक-कुंडल विषे भेद नोये।
घाट घडिया पछी नामरूप जूजवां अंते तो हेमनुं हेम होये॥

अर्थात् वेद यों कहते हैं तथा श्रुति एवं स्मृति भी गवाही देती हैं कि स्वर्ण और स्वर्णकुंडलके बीच भेद नहीं है। आकार निर्मित होनेके पश्चात् नाम एवं रूप भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु अन्तमें तो सोनेका सोना ही रहता है।

कबीरका निम्नोक्त पद भी यही बात सूचित करता है—

दरियावकी लहर दरियाव है जी
दरियाव और लहरमें भिन्न कोयम्।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जो दूसरा किस तरह होयम्॥
उसीका फेरके नाम लहर धरा
लहरके कहे क्या नीर खोयम्।
जक्त ही फेर जब जक्त परब्रह्ममें
ज्ञान कर देख माल गोयम्॥

जीवबहुत्व मानते हैं और फिर भी परब्रह्म वासुदेवसे उनका सर्वथा भेद नहीं मानते, उनका ऐसा मन्तव्य है कि जीवात्मा जब मुक्त होता है तब वह वासुदेवके धाम वैकुण्ठ या ब्रह्मलोकमें जाता है और वासुदेवके सन्निधानमें उनके एक अंशरूपसे उनके जैसा होकर सदा बसता है। मध्व, जो अणुजीववादी होनेपर भी जीवको परब्रह्मसे सर्वथा भिन्न मानता है, वह भी मुक्तजीवकी स्थिति विष्णुके सन्निधानमें—लोकविशेषमें होती है ऐसी कल्पना करता है। शुद्धाद्वैतवादी वल्लभ भी अणुजीववादी है, पर वह ब्रह्मपरिणामवादी होनेसे दूसरी ही तरह मुक्ति घटाता है। वह कहता है कि एक प्रकारके भक्त जीव ऐसे हैं जो मुक्त होनेपर अक्षरब्रह्ममें एकरूप हो जाते हैं, जब कि दूसरे पुष्टि-भक्तिसम्पन्न जीव परब्रह्मस्वरूप होनेपर भी परब्रह्मकी भक्तिके लिए ही पुनः अवतार धारण करते हैं और मुक्तवत् विचरते हैं।

—

मध्यमपरिमाण-जीववादी जैनदर्शनका मन्तव्य एक तरहसे अणुजीववादी वैष्णव-परम्पराके साथ कुछ-कुछ मिलता है तो दूसरी तरहसे उससे कुछ अलग भी पड़ता है। जैनदर्शन जीवात्माओंसे भिन्न ईश्वर, परमात्मा या परब्रह्मका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं मानता, अतः उसे ऐसी कल्पना नहीं करनी पड़ती कि मुक्त जीव परमात्माके सन्निधानमें अर्थात् लोकविशेषमें जाता है और रहता है। फिर भी वह है तो मूलमें मध्यमपरिमाणको माननेवाला, अतः जिस प्रकार अणु जीव गति करके एक स्थानसे स्थानान्तरमें वस्तुतः जाता है ऐसी कल्पना करनी पड़ती है, उसी तरह मध्यमपरिमाण अर्थात् शरीरपरिमाण जीव भी शरीर दूर होते ही एक स्थानसे स्थानान्तरमें गति करके वस्तुतः जा सकता है। ऐसा होनेसे जैनदर्शनने मुक्त जीवके लिए एक स्थानविशेषकी भी कल्पना की है। अलबत्ता, वैष्णव-परम्पराओंमें ब्रह्मलोक शब्द

प्रसिद्ध है। जैन-परम्परामें भी ब्रह्मलोक माना गया है, पर वह ब्रह्मलोक वैष्णवकोटिका नहीं; उसकी तो केवल पुनर्जन्म प्राप्त करनेवाले अमुक देवके एक स्वर्गधामके रूपमें कल्पना की गई है। जैनपरम्परा मुक्त जीवोंके अधिष्ठानके लिए जिस स्थानकी कल्पना करती है वह तो समग्र लोकके मस्तकपर—अन्तमें आया है। उसे 'सिद्धस्थान' कहते हैं। वह कहती है कि समग्र मुक्त जीव अपने-अपने वास्तविक भेदके साथ उस स्थानमें सदाके लिए स्थायी रहते हैं और तत्त्वतः वे सब भिन्न होनेपर भी ज्ञान एवं शुद्धिकी दृष्टिसे समान ही हैं।

बौद्धदर्शन जिस तरह मुक्तदशामें जीवके स्वरूपके बारेमें पहलेसे कोई निरूपण करता नहीं था फिर भी उत्तरकालमें कई बौद्ध दार्शनिकोंने मुक्तचित्तके विशुद्ध विज्ञानस्वरूपका निरूपण किया है, उसी तरह उसके मुक्तिकालीन स्थानके बारेमें भी हुआ है। प्राचीन बौद्ध उल्लेखोंपरसे ऐसा कुछ फलित नहीं होता कि मुक्तपुद्गल या बुद्धका कोई अमुक स्थान है, पर उत्तरकालीन विज्ञानवादी जैसे बौद्ध दार्शनिक ऐसा मानते प्रतीत होते हैं कि मुक्तचित्तका एक विशुद्ध विज्ञानसन्ततिरूपसे सर्वदा अस्तित्व रहता है और ऐसी विज्ञानसन्ततियाँ पुद्गलभेदसे भिन्न हैं। इससे ऐसा फलित होता है कि मुक्त विज्ञानसन्ततिको बद्ध दशाके स्थानसे कोई स्थानान्तर करनेकी आवश्यकता नहीं है; उस समय सिर्फ़ अज्ञान एवं राग-द्वेषके परिणामस्वरूप सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरका सम्बन्ध सर्वथा नष्ट होता है इतना ही। इस तरह विज्ञानवादियोंका स्थानविषयक मन्तव्य स्पष्ट न होनेपर अन्ततः वह भी अव्याकृत ही रहता है[1]।

---

१. बौद्धमतके अनुसार निर्वाणके स्थानकी चर्चा मिलिन्दपञ्हो

मुक्तिके स्थानके बारेमें जो दार्शनिक मान्यताएँ हैं वे, उपर्युक्त रीतिसे, सर्वथा भिन्न हैं यह सही, पर उनमें जो सर्वसामान्य महत्त्वका तत्त्व समाविष्ट है उस ओर ध्यान दें तो ऐसा लगेगा कि आध्यात्मिक अनुभवकी नींवमें कोई फ़र्क नहीं है, फिर चाहे दार्शनिक निरूपणमें भेद क्यों न पड़ता हो। वह आध्यात्मिक अनुभव कौनसा है, इसके बारेमें विचार करनेपर खुद मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि देश-कालके प्रवाहमें ही अस्तित्व रखनेवाला और उस प्रवाहके अनुसार ही विचार एवं कल्पना करनेवाला चित्त जब अज्ञान और राग-द्वेषके आवरणोंसे सर्वथा मुक्त होता है तब वह स्वयं ही अपना अस्तित्व खो बैठता है और जो कुछ विशुद्धरूपमें या भावरूपमें बाक़ी रहता है उसके लिए ऐसे देश-कालकृत भेदका अवलम्बन करके ही सोचने-समझने या विचारने जैसा कुछ नहीं रहता, और देश-कालके भेदका अवलम्बन करनेवाली कल्पनाओं अथवा भाषाभेदका स्पर्श तक नहीं होता। अतएव जो परिपूर्ण मुक्त बनता है वह तो अन्तमें इतना ही कह सकता है कि अन्तिम स्वरूप अनुभवगम्य है, तर्क या वाणीसे अगोचर है। यदि ऐसा है तो प्रत्येक दर्शनके अन्तिम प्रमाणरूप माने जानेवाले ग्रन्थोंमें जो मुक्तका स्वरूप और मुक्तिके स्थानका भिन्न-भिन्न निरूपण मिलता है वह क्यों?—यह प्रश्न साहजिक है। इसका उत्तर इतना ही दिया जा सकता है कि मनुष्यवर्गकी कोई एक निश्चित भाषा नहीं है। वह जैसे देशभेदसे भिन्न होती है वैसे ही कालभेदसे भी बदलती रहती है। इसी तरह संस्कार एवं आचारप्रणालियाँ भी भिन्न-भिन्न

(४. ८. ६२–४) में है। इसका सार गणधरवादकी प्रस्तावना पृ० १०७–८ में है।

देखी जाती हैं। इसमें भी तत्त्वज्ञान तथा धर्मकी परिभाषाएँ तो चालू भाषासे एक ही परम्परामें कुछ-न-कुछ भिन्न होनेकी ही। यदि हम मान लें कि अमुक साधक आध्यात्मिकताकी पूर्ण कक्षापर पहुँचा है। यहाँ प्रश्न होगा कि ऐसा साधक अपने आसपास इकट्ठे होनेवाले जिज्ञासुवर्गको अपना अनुभव किस भाषामें और किस तरह कहेगा ? इसका एकदम समझमें आ सके ऐसा उत्तर यही हो सकता है कि वह पूर्ण आध्यात्मिक पुरुष स्वयं साधक अवस्थामें जिस भाषा, परिभाषा एवं प्रणालीसे परिचित हो और सामने उपस्थित जिज्ञासुवर्गको जिस भाषा, परिभाषा एवं प्रणालीसे थोड़ा बहुत परिचय हो उसीके द्वारा वह अपना आध्यात्मिक अनुभव जता सकता है। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी आवश्यक है कि अपना आध्यात्मिक अनुभव कहते समय उसके आध्यात्मिक अनुभवमें एक बातका चित्र स्पष्ट एवं असंदिग्ध होता है कि अन्तिम कोटिका आध्यात्मिक अनुभव न तो शब्दगम्य ही है और न तर्कगम्य। इस वजहसे वैसा आध्यात्मिक एक तरफ़से मुक्तके स्वरूप और उसके स्थानके बारेमें नेति-नेति, वाङ्-मनस् अगोचरता, अव्याकृतता जैसे उद्गार निकालता है तो दूसरी तरफ़से अन्य परम्परामें मान्य हो ऐसे पूर्ण आध्यात्मिककी व्यावहारिक निरूपणशैलीसे कुछ-न-कुछ भिन्न या भिन्न प्रतीत होनेवाली शैलीमें अपना वक्तव्य कहता है। इस तरह सचमुच पूर्णतापर पहुँचे हुए आध्यात्मिकोंके अनुभवकी एकरूपता भी देशकालकी भिन्न-भिन्न व्यवहारप्रणालियोंसे खण्डित होकर अन्तमें परस्पर विरुद्ध हैं ऐसा साधारण अधिकारियोंको लगा ही करता है। यहाँपर यह भी न भूलना चाहिये कि सचमुच आध्यात्मिक कहे जा सकें ऐसे अनेक पुरुषोंके ऐसे भी उद्गार मिलते हैं कि हम जो कुछ कहते हैं वह तो व्यावहारिक निरूपण है, और ऐसे व्यावहारिक

निरूपण अनेक हो सकते हैं[१]। इन सबका भेद पारमार्थिक अन्तिम अनुभवमें गल जाता है। पूर्ण आध्यात्मिक माने जानेवाले पुरुषने भी ऐसा नहीं कहा है कि वह जो कुछ कहता है उसीमें अन्तिम अनुभव आ जाता है।

इसके अतिरिक्त अतिसूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय आध्यात्मिक तत्त्व और उनके स्वरूपके निरूपणके बारेमें सम्प्रदायभेद और पन्थभेदसे भेद पड़नेका दूसरा भी एक कारण है और वह यह कि मूलपुरुषके अनुयायी या उत्तराधिकारी माने जानेवाले तथा पूजे जानेवाले आचार्य एवं विद्वान् अधूरी एवं अस्पष्ट समझ होनेपर भी मूलपुरुषके अनुभव पूरी तौरपर समझे हों इस तरह उसका व्याख्यान व निरूपण करते हैं तथा ग्रन्थोंकी रचना करते हैं। इसका परिणाम दार्शनिक प्रणालियोंके पारस्परिक संघर्षमें आता है। यह बात जितने अंशमें भारतीय दर्शन एवं धर्मोंको तथा उनकी उपशाखाओंको लागू होती है, उतने ही अंशमें जरथोस्ती, ईसाई और इस्लाम आदि धर्मोंको भी लागू होती है।

---

१ नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा॥

—माध्यमिकवृत्ति पृ० ३७०-

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुदेसणमसक्कं॥

—समयसार का० ८.

अध्यात्मसाधना

[३]

अब हम इस बातका विचार करेंगे कि आध्यात्मिक साधनाकी भिन्न-भिन्न प्रणालियों एवं तत्त्वनिरूपणमें भेद होते हुए भी आध्यात्मिक साधनाओंका मूलभूत मन्तव्य किस प्रकार एकरूप ही है।

किसी अज्ञात क्षणमें एकाध विशिष्ट व्यक्तिमें भौतिकता-विरोधी शुद्ध आध्यात्मिक वृत्ति उदित हुई। इसके साथ ही उसमें आध्यात्मिक जीवनकी कुछ भी झलक प्रगट हुई। ऐसे जीवनको साकार करनेकी प्रबल उत्कण्ठाने उसे आदर्श जीवनके साधक पुरुषार्थकी ओर प्रेरित किया। यहींसे आध्यात्मिक साधना शुरू हुई। वह वैयक्तिक साधना धीरे-धीरे छोटे-मोटे क्षेत्रोंमें फैली। बढ़ते-बढ़ते इसने भिन्न-भिन्न दिखाई देनेवाले अनेक स्वरूप और कभी-कभी तो परस्पर विरुद्ध दिखाई दे ऐसे स्वरूप भी धारण किये। ये स्वरूप अनेक प्रकारकी साम्प्रदायिक साधनाओंके रूपमें भारतीय साहित्यमें उल्लिखित हैं। इनमेंसे अनेक तो आज भी जीवित धर्म-परम्पराओंमें दृष्टिगोचर भी होते हैं। ऐसा होनेपर भी ऐसी आध्यात्मिक साधनाओंकी विभिन्न परम्पराओंकी हमारे पास जो कमसे कम तीन-चार हज़ार वर्ष पुरानी विरासत और इतिहास है तथा इसके मूलमें जो एकता रही हुई है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि परस्पर भिन्न और विरुद्ध दिखाई देनेवाली दार्शनिक एवं साधकोंकी परम्पराओंका आधार आध्यात्मिक जीवनकी सच्ची समझ तथा अनुभूति है। यदि ऐसा न

होता तो मौलिक एकता कदापि सुरक्षित रह न पाती। यह मौलिक एकता क्या है, इसे हम पहले देखें और इसकी नींवपर चलनेवाली साधना-परम्पराएँ किन बलों व मानसिक वृत्तियोंके कारण एक दूसरीसे अलग-सी जान पड़ती हैं, इसका भी क्रमशः विचार करें।

शारीरिक तथा मानसिक वेदनाओंका लम्बा अनुभव मनुष्य-जातिके पास था। कुछ समझदार और विचक्षण पुरुष यथामति इनके कारणोंकी खोज भी कर रहे थे। उन्होंने इन बाधाओंको दूर करनेके उपाय भी ढूँढ़ निकाले थे, और नये-नये उपाय खोजे भी जा रहे थे। इस प्रकारके विशिष्ट अनुभवोंकी विरासतवाली मानवजातिमें जब आध्यात्मिक अन्तश्चेतना जागृत होती है तब स्वाभाविकतया इस प्रकारकी अन्तर्वृत्तिवाले विशिष्ट व्यक्ति ही आध्यात्मिक जीवनमें भौतिक तथा स्थूल जीवनमें प्राप्त अनुभवोंका उपयोग करते हैं और इसी पद्धतिको काममें लेकर आध्यात्मिक दुःख, उसका कारण, उसे दूर करनेके उपाय आदिके बारेमें विचार एवं चिन्तन करते हैं तथा इस विचार एवं चिन्तनके अनुसार आचरण कर उसकी यथार्थताकी जाँच भी करते हैं। हुआ भी ऐसा ही। चिकित्साशास्त्रमें शारीरिक व मानसिक दुःखके कारणके तौरपर जीवन कैसे जीना और इस तरह जीनेके लिए परिस्थितिकी किस प्रकार आयोजना करनी इसका अज्ञान ही मुख्यरूपसे बताया गया है। इस प्रज्ञापराधको दूर करनेके उपायोंमें मुख्य स्थान है जीवन जीनेकी कलाके सम्यग्ज्ञानका[1]।

---

१. मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते ।
शब्दादीनां स विज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियको बुधैः ॥
वेदनानामसात्म्यानामित्येते हेतवः स्मृताः ।
सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः ॥

इसीलिये चिकित्साशास्त्र चार मुख्य सिद्धान्तोंके आधारपर प्रवृत्त हुआ है[1]—(१) अनुभवमें आनेवाला शारीरिक-मानसिक दुःख हेय है, अर्थात् इसका निवारण शक्य है; (२) यह दुःख बिना कारण कभी पैदा नहीं होता, अतः हेयका हेतु भी है; (३) इस कारणको दूर करनेके उपाय भी हैं; और (४) इन उपायोंका यथावत् अवलम्बन करनेसे दुःख या रोग दूर होकर उसका स्थान सुख या स्वास्थ्य अर्थात् हान अवश्य लेता है।

चिकित्साशास्त्रकी पद्धतिके अनुसार ही आध्यात्मिक पुरुषोंने आध्यात्मिक जीवनसे सम्बद्ध चार मूल सिद्धान्त निश्चित किये हैं। वे ये हैं—(१) आध्यात्मिक दुःख अर्थात् शुद्धचैतन्यका बन्धन अर्थात् अपूर्णता, (२) इसका मुख्य कारण अविद्या या अज्ञान, (३) अज्ञानको दूर करनेके लिए सम्यग्ज्ञान आदि उपायोंका अनुष्ठान, और (४) आध्यात्मिक बन्धनसे मुक्ति अथवा पूर्णताकी सिद्धि।

ऐसी कोई आध्यात्मिक साधना नहीं है जो उपर्युक्त चार सिद्धान्तोंको अस्वीकार कर चलती हो, फिर भले ही उनके नाम भिन्न-भिन्न परम्पराओंमें भिन्न-भिन्न मिलते हों। वस्तुतः इन चार सिद्धान्तोंके आधारपर ही आध्यात्मिक पुरुष विचार और व्यवहार करते हैं अथवा उपदेश देते हैं।

नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः ।
हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः ॥
—चरकसंहिता, शारीरस्थान अ० १ श्लो० १२८–३०

१. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव । तद्यथा—संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति। —योगदर्शनभाष्य २. १५

वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीनों जीवित भारतीय धर्म-परम्पराओंमें उपर्युक्त चार सिद्धान्त या सत्य किस प्रकार निरूपित किये गये हैं, यह अब हम देखें।

वैदिक परम्पराका वाङ्मय अतिविशाल है। वह अनेक भाषाओंमें ग्रथित है। उसमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व-मीमांसा-उत्तरमीमांसा आदि अनेक दार्शनिक प्रवाह विद्यमान हैं। उपनिषद् तथा गीता ये दो ग्रन्थ ऐसे हैं जो समस्त वैदिक परम्पराओंको मान्य हैं। उनमें ये चार सिद्धान्त मिलते तो हैं, किन्तु उनका जैसा स्पष्ट और उठावदार चित्र योगशास्त्रमें है वैसा अन्यत्र सुलभ नहीं। यह योगशास्त्र सभी प्राचीन-अर्वाचीन, छोटी-बड़ी वैदिक परम्पराओंको मान्य भी है। अतः उसके आधारपर इन चार सिद्धान्तोंका निर्देश यदि हम यहाँपर करें तो उसे वैदिक परम्पराका सर्वसम्मत मन्तव्य ही समझना चाहिये।

पतञ्जलिका समय कुछ भी रहा हो, किन्तु उसका योगशास्त्र पूर्ववर्ती अनेक शताब्दियोंकी योगसाधनाके अनुभवका निचोड़ है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। यह योगशास्त्र आध्यात्मिक साधनाके मूलभूत चार सत्योंका विस्तृत एवं विशद विवेचन करता है। उसमें इन सत्योंको हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय—इस प्रकार चतुर्व्यूहके रूपमें बताया है।[1] इसीका समर्थन न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायने अपने भाष्यमें संक्षेपसे किया है।[2]

---

१. हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥ तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥ विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥ —योगदर्शन, साधनपाद

२. हेयं तस्य निर्वर्तकं हानमात्यन्तिकं तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग्बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति। —न्यायभाष्य १.१.१

तथागत बुद्धने इन चार सत्योंको आर्यसत्य कहा है। ये आर्य-सत्य दुःख (हेय), समुदय (हेयहेतु), निरोध (हान) तथा मध्यम-प्रतिपदा अथवा निरोधमार्ग (हानोपाय) के नामसे बौद्ध-परम्परामें प्रसिद्ध हैं।[१] यहाँ सत्यका अर्थ है जिसमें अनुभवका बाध न हो। सूक्ष्म विवेकपूर्वक अपने जीवनका विचार करनेवाला तथा उसका पूरी सचाईके साथ अनुसरण करनेवाला साधक किसी भी देश, काल अथवा जातिका क्यों न हो, पर इन सत्योंके विषयमें उसका अनुभव एक-सा ही होगा। इसी दृष्टिसे बुद्धने इन्हें सत्य कहा है और वह भी आर्यके सत्य। आर्य अर्थात् देश, काल अथवा जातिके मर्यादित बंधनोंसे मुक्त होकर आध्यात्मिक साधना करनेवाला पुरुष।

जैनपरम्पराके आगम आदि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थोंका सारसर्वस्व है वाचक उमास्वातिका तत्त्वार्थाधिगमसूत्र जो प्रत्येक जैन फिरक़ेको एक जैसा मान्य है। उसमें इन्हीं चार सत्योंका बन्ध, आस्राव, मोक्ष तथा संवर—इन चार नामोंसे निरूपण किया गया है।[२] बन्ध अर्थात् शुद्ध चैतन्यका बन्धन या अज्ञान-राग-द्वेष आदि दोषोंके परिणामरूप दुःख यानी हेय। आस्रव अर्थात् शुद्ध चैतन्यको बाँधनेवाले अथवा उसे लिप्त करनेवाले दोष यानी हेयहेतु अथवा समुदय। मोक्ष यानी बन्धनसे मुक्ति अर्थात् हान अथवा निरोध। संवर यानी मोक्षमार्ग अर्थात् हानोपाय अथवा निरोधमार्ग।

इस प्रकार सामान्यतया हम देख सकते हैं कि समस्त आध्यात्मिक परम्पराओंने अपनी साधनाके मूलभूत सिद्धान्तोंके तौरपर चार सत्य स्वीकार किये हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय भयभैरवसुत्त ४।

२. तत्त्वार्थसूत्र १. ४।

प्रस्तुत चार सत्योंमेंसे भी यहाँ तो मुख्य रूपसे दो ही सत्यों-पर विचार करना अभीष्ट है। इनका विचार करनेपर शेष दो सत्योंपर भी प्रकाश पड़ ही जायगा। वे दो सत्य हैं—(१) बन्धन, दुःख या संसारका कारण और (२) उसे दूर करनेके उपाय।

प्रत्येक आध्यात्मिक साधकने संसारके मूल कारणके तौरपर अविद्या ही मानी है। अविद्या क्लेशोंका मूल है। इसकी उपस्थितिमें इतर राग-द्वेष आदि कषाय-क्लेश उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकते। योगशास्त्रमें पाँच क्लेशोंका निर्देश कर उनमें समस्त दोषोंका समावेश किया गया है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं और अविद्याको ही अवशिष्ट क्लेशोंका क्षेत्र अर्थात् प्रसवभूमि कहा गया है[1]। ये ही पाँच क्लेश सांख्यकारिकामें पाँच विपर्ययोंके नामसे निर्दिष्ट हैं[2]। कणादने अपने सूत्रोंमें अविद्याको ही मूलदोषके रूपमें बताते हुए उसके कार्यके तौरपर इतर दोषोंको बताया है[3]। अक्षपादने अविद्याके स्थानमें मोह पदका प्रयोग किया है और कहा है कि यदि मोह न हो तो इतर राग-द्वेष आदि दोषोंकी उत्पत्ति ही न हो[4]। पतंजलिका सूत्र 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो-

---

१. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

—योगसूत्र २.३-४

२. 'पञ्च विपर्ययभेदाः' इत्यादि सांख्यकारिका ४७-४८

३. कणादका यह मन्तव्य प्रशस्तपादभाष्यके संसारापवर्ग प्रकरणमें निरूपित है।

४. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। —न्यायसूत्र १. १. २

दाराणाम्' (२-४) तथा अक्षपादके सूत्र दोनों एक ही बात कहते हैं। उपनिषद्[1], गीता[2] तथा ब्रह्मसूत्रमें भी मूल दोष अथवा संसारके बीजके तौरपर अविद्या ही मानी गई है।

तथागत बुद्धने संसारकी जिस कारणमालाका निर्देश किया है उसमें मुख्य अविद्या ही है। अविद्या हो तभी तृष्णा आदि दोष उत्पन्न होते हैं[3]।

जैनपरम्परामें भी यही बात कही गई है। उसमें संसारके कारणके रूपमें मुख्य दो वस्तुएँ बताई गई हैं—एक तो दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। अन्य परम्पराओंमें जो वस्तु अविद्या, विपर्यय, मोह अथवा अज्ञानके नामसे बताई गई है वह वस्तु जैनपरम्परामें दर्शनमोह अथवा मिथ्यादर्शनके नामसे बताई गई है[4]। इतर परम्पराओंमें जो अन्य क्लेश अथवा दोष अस्मिता,

---

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहान्तरभावात्। —न्यायसूत्र ४. १. ३
तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः। — ,, ४. १. ६
इन न्यायसूत्रोंका भाष्य भी देखना चाहिये।

१. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः॥
—कठोपनिषद् १. २. ५

२. अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः॥
× × ×
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
—भगवद्गीता ५. १५-१६

३. मज्झिमनिकाय—महातण्हासंखयसुत्त ३८।

४. तत्त्वार्थसूत्र ८. १

राग, द्वेष आदि नामोंसे अथवा तृष्णा पदसे बताये गये हैं उन्हीं दोषोंका जैनपरम्परामें चारित्रमोह अथवा कषाय पदसे निर्देश किया गया है। इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन सभी परम्पराएँ संसारके मूल कारणके तौरपर अविद्या अथवा मोहको मानकर शेष समग्र दोषोंको उसके परिणाम ही मानती हैं[1]।

आध्यात्मिक साधकोंने यह अनुभव किया कि दोषनिवारणका एकमात्र उपाय उस-उस दोषसे विपरीत स्वभाववाले, पर साध्यके अनुकूल हो, ऐसे मार्गका अवलम्बन लेना ही है। इस अनुभवके आधारपर उन्होंने अविद्याके निवारणका उपाय विद्या ही माना। विद्या प्रकट होनेपर अविद्या नहीं रहती और अविद्याकी अनुपस्थितिमें उससे उत्पन्न होनेवाले अन्य क्लेश स्वतः शान्त हो जाते हैं। इसीलिए कणादने अविद्याकी विरोधिनी विद्याका निरूपण किया है। पतंजलिने विद्याका विवेकख्यातिके रूपसे वर्णन किया है। अक्षपादने विद्या अथवा विवेकख्यातिके स्थानमें तत्त्वज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान पदका प्रयोग किया है। जैनपरम्परा भी मुख्यरूपसे सम्यग्ज्ञान पदसे ही यह बात कहती है। बौद्धपरम्परामें इसके लिए प्रधानतया विपस्सना अथवा प्रज्ञा[2] शब्दका प्रयोग किया गया है। इस तरह सभी परम्पराओंके अनुसार जो अर्थ फलित होता है वह यह है कि विद्या, तत्त्वज्ञान, सम्यग्ज्ञान अथवा प्रज्ञासे अविद्या या मोहका नाश होता है। इसका नाश होते ही राग-द्वेष आदि क्लेश अथवा कषाय भी नष्ट हो जाते हैं। इनके नष्ट होते ही पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म आदिका भी नाश हो जाता है तथा जन्मपरम्परारूप संसारका

---

१. इस विषयमें विशेष अध्ययनके लिए देखो 'गणधरवाद' (गुजराती) की प्रस्तावना पृ० ९९–१०१.

२. विसुद्धिमग्ग १. ७

अन्त आ जाता है। इस सर्वसम्मत मान्यताका अक्षपादके एक संक्षिप्त सूत्रमें बहुत सुन्दर ढंगसे वर्णन किया गया है। वह सूत्र है—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।' (१.१.२)

बन्धन तथा संसारका मुख्य कारण अविद्या है—इस सिद्धान्त अथवा सत्यपर पहुँचते-पहुँचते आध्यात्मिक साधकोंने यह भी विचार किया कि अविद्या क्या है और उसका विषय क्या है? वैसे तो अविद्या अथवा भ्रमका पद-पदपर अनुभव होता है। रस्सीमें साँपका भ्रम हो अथवा विपरीत मार्गको अमुक नगरमें पहुँचनेवाला मार्ग मान लिया जाय तो इस अविद्या या भ्रमसे कठिनाई अवश्य उत्पन्न होगी, पर इससे संसार-परम्परा निर्मित नहीं होगी। अतः जन्म-परम्पराका निर्माण करनेवाली अविद्या अथवा मोह कौनसा है तथा उसका विषय क्या है, यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका उत्तर प्राप्त करनेके लिए आध्यात्मिक साधकोंने गहरा चिन्तन किया और उन्हें निर्विवादरूपसे एक ही समान उत्तर मिला कि आत्मा, चैतन्य अथवा स्वरूपका अज्ञान ही मूल अविद्या है और यही अविद्या भव-परम्पराका कारण है। उन्हें अनुभव हुआ कि देह, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि जीवनके आयतनोंमें आत्मबुद्धि, चेतनबुद्धि अथवा अहंप्रत्ययद्वारा सुखकी प्राप्तिके लिए जो प्रयत्न किया जाता है उससे होनेवाली सुख-संवेदना न तो स्थायी होती है और न अन्य चेतन-जगत्के सुख-संवेदनाओंके साथ पूर्ण रूपसे सुसंवादी ही। जो सुख इतर चेतनसृष्टिके सुखका विरोधी न हो तथा जिस सुखमें इतर समग्र चेतनसृष्टिके सुखका अथवा अभेद-सम्बन्धका अनुसन्धान हो वही सुख स्थायी, व्यापक तथा अविसंवादी कहलाता है। ऐसा सुख देह, इन्द्रिय, मन तथा प्राण जैसी मूर्त, भौतिक, विनश्वर एवं देश-कालसे अत्यन्त

सीमित वस्तुओंमें चेतनबुद्धि अथवा अहंप्रत्यय करनेसे कभी सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि परिमित तथा स्थूल वस्तुओंका अहंप्रत्यय मर्यादित सुख-संवेदनाके अनुभवके रूपमें परिणत होता है।

देह, इन्द्रिय, मन तथा प्राणसे आगे बढ़कर उनसे भिन्न चेतनाकी सुनिश्चित भूमिका तक पहुँचनेमें मानव-बुद्धिको लम्बी मंज़िल तय करनी पड़ी है। देह-इन्द्रियका अहंप्रत्यय सूक्ष्म जन्तु तथा कीट-पतंग आदिके लिए सामान्य अथवा साधारण है। इनसे उच्च कोटिके पशु-पक्षी आदि जीवोंमें प्राणविषयक उत्कट अस्मिता भी देखी जाती है; किन्तु मानवबुद्धिका विवेक इन भूमिकाओंसे सन्तुष्ट न हुआ और आगे बढ़ा। मानवजातिमें जो सूक्ष्मविवेकी तथा अन्तर्मुख चिन्तक हुए उन्हें देह, इन्द्रिय, प्राण आदिके संघातसे भिन्न चेतना माननेकी कुछ प्रबल युक्तियाँ सूझीं, जिनका निर्देश संक्षेपमें इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) देह, इन्द्रिय, प्राण आदि संघात देश तथा कालकी अत्यन्त संकुचित सीमासे सीमित हैं, फिर उन्हें भूतकालके और कभी-कभी लम्बे भूतकालके अनुभवोंकी झाँकी वर्तमानमें कैसे हो सकती है? चिर-अतीत तथा वर्तमानका संकलन दीर्घकालीन एवं देशान्तरीय अनुभवोंसे उत्पन्न होनेवाली संस्कारराशिपर निर्भर है। इस प्रकारके संकलनके कारण ही भावी ध्येयोंके विचार वर्तमानमें उत्पन्न होते हैं। अतः देश-कालकी सीमासे सीमित भूतसंघातसे भिन्न ऐसा कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिये जो इन संस्कारोंको धारण करता हो तथा चेतनाशक्तिके द्वारा उनपर अधिक विचार एवं ऊहापोह करता हो। यही तत्त्व आत्मा, चेतन अथवा चित्ततत्त्व है।[1]

---

१. न्यायसूत्र ३.१.१–२७

(२) अपनेसे दूर-दूरतर-दूरतम प्रदेश अथवा समयमें किसी अन्यपर आये हुए भारी संकटके समाचारसे मानवचित्तको कभी-कभी अपने .खुदके दुःखानुभव जैसा ही गहरा आघात पहुँचता है—इस प्रकारका सबका अनुभव है। देह, इन्द्रिय आदि मूर्त संघात परस्पर अत्यन्त भिन्न होते हैं, अतः उनमें कोई वास्तविक अनुसन्धान नहीं होता। इसलिए दूसरोंके दुःखका अनुभव करनेवाला और देहादिसे भिन्न कोई अनुसन्धानकारी तत्त्व माने बिना इसका .खुलासा नहीं किया जा सकता। वैसा अनुसन्धानकारी तत्त्व ही चैतन्य है।

(३) पहलेके किये हुए सदाचरणोंके स्मरणसे उत्तरकालमें कभी आन्तरिक हर्ष तथा सुखका अनुभव होता है तो पहलेके दोषाचरणोंके स्मरणसे विषाद तथा दुःखका भी अनुभव होता है। यह एक व्यक्तिगत नैतिक मूल्य है। इसी तरह जीवनमें सामुदायिक नैतिक मूल्य भी हैं। इन समस्त मूल्योंका वास्तविक आधार स्वतंत्र चेतनतत्त्वके अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता।[१]

इन और इन जैसी अनेक युक्तियोंसे मानवबुद्धि चेतनतत्त्वके स्वतंत्र अस्तित्वके निर्णयपर पहुँची है। तैत्तिरीय उपनिषद्में[२] उल्लिखित विचारोंके अनुसार अन्न, प्राण तथा मनकी कई भूमिकाओंको पारकर और विज्ञान तथा आनन्दकी शाश्वत चेतन-भूमिकाका स्पर्श करके उसके आधारपर मानवबुद्धिने आध्यात्मिक साधना भी शुरू की है; अर्थात् श्रवण तथा मननसे प्राप्त होनेवाले चेतन-अचेतनके परोक्ष विवेकज्ञानको प्रत्यक्षरूपसे आत्मसात् करनेका अथवा उसे साकार करनेका प्रयत्न प्रारम्भ किया है।

---

१. सन्मतितर्क १. ४३–४६

२. देखिये तैत्तिरीय उपनिषद्की ब्रह्मानन्दवल्ली।

आध्यात्मिक साधनाका विस्तार ही हानोपाय अथवा मोक्ष-मार्ग नामक तृतीय सत्य है। साधनाका यह विस्तार एकरूप नहीं है। देश-काल, परम्परागत संस्कार, रुचि एवं अधिकार आदिके वैविध्यके कारण साधनाप्रणालीमें भिन्नता तथा विविधता अनिवार्य है। ध्यान, जप, तप, यज्ञ आदिकी जिनमें प्रधानता हो ऐसी साधनाओंको मुख्य साधनाके अंगरूप मानकर गीताने मुख्य साधनाके तौरपर ज्ञान, भक्ति तथा कर्मप्रधान साधनाका सविस्तर एवं सुन्दर विवेचन किया है जो समग्र वैदिक परम्पराओंकी साधनाओंका एक प्रकारका संक्षेपमात्र है। तथागत बुद्धके द्वारा उपदिष्ट मध्यमप्रतिपदारूप जिस आर्य-अष्टांगिकमार्गका[१] पिटकोंमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है उसका सुव्यवस्थित संक्षिप्त निरूपण शील, समाधि एवं प्रज्ञाके रूपमें विशुद्धिमार्गमें बुद्धघोषने किया है। पार्श्वनाथ आदि निर्ग्रन्थोंद्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्गका संक्षेप तत्त्वार्थसूत्र (१·१) में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्रके रूपमें किया गया है। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म; शील, समाधि और प्रज्ञा; सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीनों त्रिकोंमें शब्दका एवं वाच्यार्थका भेद होते हुए भी इनकी अन्तरात्मा या तात्पर्यार्थ एक ही है, ऐसी प्रतीति असाम्प्रदायिक मानसको हुए बिना नहीं रहती।

पातञ्जल योगशास्त्रमें वर्णित साधनाका कुछ विस्तारसे उल्लेख कर उसके साथ गीता, विशुद्धिमार्ग तथा तत्त्वार्थसूत्रमें वर्णित साधनाकी यथासम्भव तुलना यहाँ की जाती है जिससे उपर्युक्त कथनकी यथार्थता समझमें आ सकेगी।

१. आर्य-अष्टांगिकमार्ग—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्वचन, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि। —मज्झिमनिकायगत सम्मादिट्ठिसुत्तन्त ९

आध्यात्मिक साधना अर्थात् योगकी प्रवृत्ति कालकी दृष्टिसे बहुत लम्बी है, और यह है भी द्विलक्षी। इसका एक लक्ष्य यह है कि साधक सर्वप्रथम आसपासके सामाजिक सम्बन्धको तथा क्रमशः विश्वके साथके सम्बन्धको समझे, उसे विवेकपूर्वक विस्तृत करे तथा उत्तरोत्तर विशुद्ध करता रहे। दूसरा लक्ष्य यह है कि वह बहिर्गामी सम्बन्धमें विस्तार एवं विशुद्धिकरणके साथ-साथ आन्तरिक चित्तभूमिको भी विशुद्ध एवं उदात्त बनाता जाय। स्वरूपकी दृष्टिसे भी यह द्विलक्षी साधना चढ़ते-उतरते अंगोंसे सिद्ध होती है—पूर्ण होती है। योगशास्त्रमें ऐसे आठ अंग गिनाये गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि[1]। इन अंगोंको दो भागोंमें बाँटकर उनके स्वरूप एवं कार्यका विचार करें तो योगसिद्धिमें प्रत्येक अंगका क्या स्थान है, यह कुछ सरलतासे समझमें आ सकेगा। प्रथम भागमें यम आता है और दूसरेमें नियमसे लेकर समाधि तकके बाक़ीके समस्त अंग।

यम यह सूचित करता है कि साधक योगीको समाज तथा चराचर विश्वके साथ किस प्रकारका बर्ताव करना चाहिये अथवा उसे किस प्रकारका जीवन जीना चाहिये। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह—ये पाँच दोष जीवनव्यवहारमें बहुत साधारण होते हैं तथा इनसे सामाजिक जीवन कलुषित होता है। इन दोषोंका परिहार करना अर्थात् अहिंसा, सत्य आदि व्रतों या महाव्रतोंका पालन करना ही यम है[2]। जीवन-व्यवहारमें हिंसा, असत्य आदि तभी दोषरूप बनते हैं जब उनका आचरण लोभ, क्रोध तथा मोहसे प्रेरित होकर किया जाता है। इसलिए योगीके

१. योगसूत्र २. २९

२. योगसूत्र २. ३०

लिए यम अंगका अनुष्ठान तभी सिद्ध माना जाता है जब वह लोभ, क्रोध और मोहके परिहारके साथ ही व्रत पाले। इस प्रकारके व्रतों एवं महाव्रतोंके सम्यक् परिपालनसे योगीकी आन्तरिक शुद्धि तो होती ही है, साथ ही साथ उसका चराचर विश्वके साथका सम्बन्ध भी विशुद्ध बनता है।

यम योगका प्रथम अंग है। इसका अर्थ यह है कि यह आध्यात्मिक साधनाकी सर्वप्रथम और ठोस भूमिका है। इस भूमिकाके अभावमें योगके शेष अंग कभी भी योगमें साधक नहीं हो सकते। इसीलिए गीताने दैवीसम्पत्‌में[1] अहिंसा, सत्य आदि सद्‌गुणोंको मुख्य स्थान दिया है। बुद्धने शीलरूपसे इन सद्‌गुणोंका वर्णन कर इन्हें समाधिकी भूमिकाके रूपमें प्रस्तुत किया है[2]। निर्ग्रन्थ परम्पराने भी अणुव्रत-महाव्रतके रूपमें विरति अथवा चारित्रको ही आध्यात्मिक विकासकी भूमिकाके तौरपर सर्वप्रथम स्थान दिया है।

योगशास्त्रमें प्रत्येक अवस्थामें आचरण करनेयोग्य अहिंसा आदि पाँच यमोंका योगीके महाव्रतोंके रूपमें उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि इस प्रकारके महाव्रतोंके लिए जाति, देश, काल अथवा समयकी कोई सीमा नहीं होती[3]। इसी प्रकार उसमें महाव्रतोंको जीवनमें उतारते-उतारते पूर्वसंस्कारवश बीच-बीचमें हिंसा, असत्य आदि दोषोंका सेवन करनेकी वृत्ति जाग्रत् हो जाय तो ऐसी वितर्कबाधाओंको दूर करनेके हेतु हिंसा आदि

१. गीता १६. १-३

२. सीलेन च सासनस्स आदिकल्याणता पकासिता होति। सीलं सासनस्स आदि। —विसुद्धिमग्ग १. १०

३. जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। —योगदर्शन २. ३१

दोषोंमें अनिष्ट चिन्तन करनेका सूचन भी उसमें किया गया है[1]। वैसे ही तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें भी हिंसादि दोषोंसे सर्वथा विरत होनेको महाव्रत कहा गया है और यह भी बताया गया है कि यदि हिंसा, असत्य आदि दोषोंके सेवनका विचार पूर्वसंस्कारवश मनमें उत्पन्न हो तो साधकको हिंसा आदि पाँच दोषोंमें ऐहिक एवं पारलौकिक अनिष्टका चिन्तन करना चाहिये[2]। विशुद्धिमार्ग (१.१५३) में भी शील (यम अथवा महाव्रत) के खण्डित होनेके विविध निमित्तोंका उल्लेख करके उसे अखण्ड रखनेके उपायके रूपमें शीलविपत्तिके अनिष्टों एवं शीलसम्पत्तिके गुणोंका बहुत विस्तारसे वर्णन किया गया है जो एक प्रकारसे योगशास्त्र और तत्त्वार्थसूत्रकी वितर्कबाधाके समय चिन्तन करनेकी प्रतिपक्ष भावनाका विशद भाष्य है।

दूसरा अंग नियम है। यह मुख्य रूपसे स्वयं साधकके साथ सम्बन्ध रखता है। जीवन्मुक्तिविवेकमें विद्यारण्य स्वामी ठीक ही कहते हैं कि जो सकाम धर्मसे निवृत्त करके निष्काम धर्मकी ओर प्रेरित करे वह नियम है[3]। नियममें अनेक बातोंका समावेश हो सकता है, किन्तु उनमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान मुख्य हैं[4] जिन्हें योगशास्त्र में क्रियायोग कहा है[5]। सभी साधकोंको

१. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। —योगदर्शन २. ३३

२. हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम्।

—तत्त्वार्थसूत्र ७. ४ तथा उसका भाष्य

३. जन्महेतोः काम्यधर्मान्निवर्त्य मोक्षहेतौ निष्कामधर्मे नियमन्ति प्रेरयन्ति। —जीवनमुक्तिविवेक

४. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

—योगदर्शन २. ३२

५. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। —योगदर्शन २. १

अनिवार्य रूपसे पाँचों यमोंका यथाशक्ति पालन करना पड़ता है, जब कि नियमके विषयमें एकान्तरूपसे ऐसा नहीं कहा जा सकता। कोई साधक तपःप्रधान होता है, कोई स्वाध्याय पर विशेष भार देता है तो कोई ईश्वर-प्रणिधान पर विशेष ज़ोर देता है। जिसकी जिसमें अधिक रुचि हो वह उस नियमका विशेष रूपसे पालन करता है। नियमका एकमात्र उपयोग मनको समाधिकी ओर मोड़ने तथा क्लेशोंको दुर्बल बनानेके लिए है। उपनिषद्, गीता तथा मनुस्मृतिमें तप व स्वाध्याय आदि नियमोंपर भार दिया गया है[1]। बौद्धपरम्परामें भी धुतांगके[2] रूपमें तपका समावेश किया गया है। निर्ग्रन्थ जैनपरम्परा तो तपस्वी-परम्परा ही समझी जाती है। स्वाध्यायको भी प्रत्येक परम्पराने समुचित स्थान

---

१. स तपोऽतप्यत। —बृहदा० १. २. ६

तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि। —बृहदा० ३. ८. १०

यज्ञेन दानेन तपसा। —बृहदा० ४. ४. २२

तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। —तैत्तिरीय १. ६. १

श्रद्धया परया तप्तं तपः। —गीता १७. १७

क्षान्त्या शुद्धयन्ति विद्वांसो दानेनाऽकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥—मनु० ५. १०६

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मनः सत्येन शुद्धयति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति॥—मनु० ५. १०८

तपश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्॥ —मनुस्मृति ६. ७५

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥—मनुस्मृति १२.१०४

इनके अतिरिक्त अध्याय ११ श्लोक २३३–२४७ में भी तपके महत्त्व और प्रकारोंका वर्णन है।

२. विसुद्धिमग्ग : धुतंगनिद्देसो पृ० ४०

दिया है। ईश्वर-प्रणिधानके स्थूल शब्दार्थमें विभिन्न परम्पराओंमें कुछ मतभेद अवश्य है, किन्तु ईश्वर-प्रणिधानके विशाल और वास्तविक अर्थमें किसीका मतभेद नहीं है। कोई ईश्वर या परमात्माको पृथक् मानकर उसका प्रणिधान करता है, कोई जीवात्मासे अपृथक् परब्रह्मको ही परमात्मा कहकर उसका प्रणिधान करता है तो कोई मुक्तिप्राप्त जीवको ही परमात्मा मानकर उसका प्रणिधान करता है। किन्तु आखिरकार बात एक ही है और वह यह कि निष्कामभावसे महान् आदर्शके साक्षित्वमें सब कुछ करना।

समाज और विश्वके साथके सम्बन्धको विस्तृत एवं विशुद्ध करना हो अथवा उपनिषद्की भाषामें 'भूमा' बनना हो अथवा बौद्ध परिभाषाके अनुसार महायानी या ब्रह्मविहारी बनना हो तो साधकके लिए अनिवार्य है कि वह अन्तर्निरीक्षणकी ओर मुड़े तथा चित्ततंत्रके सतत गतिशील वृत्तिचक्रको देखे और क्लेशवासनाओंके कारण वह वृत्तिचक्र किस प्रकार क्षुब्ध होता है, इसकी जाँच करे। क्लेशों और वृत्तियोंके बलाबलकी यथावत् जाँच कर कब किस क्लेश और वृत्तिके वेगसे इतर क्लेश और वृत्तियाँ वेग पकड़ती हैं और कब अन्य क्लेश और वृत्तिके वेगसे वैसा होता है इसका विवेकपूर्वक विचार साधक करे। यदि साधक क्लेश और वृत्तिचक्रका ठीक-ठीक निरीक्षण व पृथक्करण नहीं करता है तो वह क्लिष्ट वृत्तियोंके स्थानपर अक्लिष्ट वृत्तियोंको स्थिर करनेमें पूर्ण सफल नहीं हो सकता। इसीलिए योगके अंगोंमें समाधिकी प्रक्रियाका भी समावेश किया गया है[1]।

---

१. भगवान् बुद्धने साधना-कालमें इस प्रकारके वृत्तिचक्रका जो निरीक्षण किया था उसका वर्णन मज्झिमनिकायके द्वेधावितक्कसुत्तन्त (१९) में है।

जन्मसे ही चित्तकी आदत इन्द्रियोंका अनुगमन करनेकी होती है। इससे वह इन्द्रियोंद्वारा गृहीत होनेवाले विषयोंमें ही मस्त रहता है तथा इन्द्रियोंद्वारा गृहीत न होनेवाले स्थूल अथवा सूक्ष्म विषयका चिन्तन-मनन करनेमें वह असमर्थ बन जाता है। इन्द्रियों-द्वारा गृहीत होनेवाले एवं भोगे जानेवाले विषय भौतिक एवं स्थूल कोटिके होते हैं, अतः वे इन्द्रियों एवं मनको लम्बे समयतक समान रूपसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। इन्द्रियाँ और मन पहलेके आकर्षणसे थककर उनमें अरुचिका अनुभव करने लगते हैं तथा नये-नये आकर्षणोंकी ओर मुड़ते हैं। इसीलिए मन सदा चंचल रहता है तथा किसी एक विषयमें और ख़ासकर अपने स्वरूपके विषयमें अथवा चेतनके स्वरूपके विषयमें स्थिर होकर विचार नहीं कर सकता। मनकी इस दशाका नाम व्युत्थान है। व्युत्थानमें चित्त क्षिप्त, मूढ़ एवं विक्षिप्त स्थितिका अनुभव करता है[१]। इस स्थितिको बदलकर उससे विपरीत दिशामें मनको मोड़नेकी तथा शिक्षित करनेकी शुरूआत ही योगमार्गका प्रारम्भ है। इसमें पहले चित्तको एकाग्र करनेका प्रयत्न होता है, तदनन्तर उसे निरुद्ध करनेका। एकाग्रता प्राप्त करनेके प्रयत्नके साथ ही व्युत्थान-स्थितिका निरोध प्रारम्भ हो जाता है; अतः एकाग्रताके समय ही चित्त अमुक अंशमें निरोधयुक्त तो होता ही है, किन्तु एकाग्रताके परिपूर्ण एवं यथावत् सध जानेके बाद ही जो क्लेश-संस्कार एवं वृत्तियोंका निरोध होता है वह बहुत बलवान् और प्रधान होता है, अतः उस समयका चित्त ही निरुद्ध कहलाता है।

इन्द्रियोंका अनुसरण करनेसे पैदा होनेवाली चंचलता तथा बहिर्मुखताको रोककर चित्तमें स्थिरता एवं अन्तर्मुखता स्थापित करना ही ध्यान अथवा समाधि-प्रक्रियाका उद्देश्य है। योगशास्त्रमें

१. योगभाष्य १. १

चित्तवृत्तिके निरोधको योग[1] कहकर उपर्युक्त वस्तुस्थितिका ही निर्देश किया है। वृत्तियाँ चित्तका किसी-न-किसी प्रकारका ज्ञान-रूप व्यापार है। ये वृत्तियाँ जब अविद्या आदि क्लेशोंसे अनुरंजित होती हैं तब उन्हें क्लिष्ट कहा जाता है तथा जब उनपर क्लेशोंकी छाया नहीं होती तब उन्हें अक्लिष्ट कहा जाता है[2]। साधना करते समय योगीको सर्वप्रथम चित्तमेंसे क्लेशोंको निर्बल कर धीरे-धीरे उन्हें दूर करना पड़ता है। क्लेशोंका सूक्ष्म रूपमें भी आविर्भाव न होने पावे इसीलिए ध्यानाभ्यास किया जाता है। क्रियायोगसे निर्बल तथा ध्यानयोगसे क्षीण हुए क्लेश वृत्तिसह निर्मूल तभी होते हैं जब विदेहमुक्तिकालमें चित्त अपना पृथक् अस्तित्व खोकर प्रधानरूप मूल कारणमें विलीन होता है[3]। इसका अर्थ यह हुआ कि चित्तके साथ स्थूल देहका भी विलय होता है। योगशास्त्रमें निरूपित क्लेश तथा वृत्तिहानिकी इस प्रक्रियाका तत्त्वार्थसूत्रमें किस प्रकार निरूपण किया गया है वह अब हम देखें।

तत्त्वार्थसूत्रमें 'योग' शब्द चित्तवृत्तिनिरोधके अर्थमें नहीं, अपितु कायिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृत्तिके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है[4]। यही प्रवृत्ति जैन-परिभाषामें आस्रव कहलाती है[5]। जिस प्रकार योगशास्त्रमें क्लिष्ट और अक्लिष्ट ये दो प्रकारकी वृत्तियाँ

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः —योगदर्शन १. २

२. वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। —योगदर्शन १. ५

३. समाधिभावनार्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च।
ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।
ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। —योगदर्शन २. २,१०,११

४. कायवाङ्मनःकर्म योगः। —तत्त्वार्थसूत्र ६. १

५. स आस्रवः। —तत्त्वार्थसूत्र ६. २

बतलाई गई हैं उसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्रमें भी सकषाय और अकषाय इन दो प्रकारोंकी प्रवृत्तियोंका वर्णन किया गया है[1]। जिस प्रकार क्लिष्ट वृत्तिमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशोंका समावेश किया गया है, उसी प्रकार सकषाय प्रवृत्तिमें मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषायका समावेश होता है[2]। मिथ्यादर्शन अविद्या है तथा अविरतिसे कषायतकके तीन दोष वस्तुतः अस्मितासे अभिनिवेशतकके क्लेशोंका ही भिन्न प्रकारका वर्गीकरण है। इस प्रकार योगशास्त्रकी क्लिष्ट वृत्ति तथा तत्त्वार्थ सूत्रका सकषाय योग अर्थात् आस्रव ये दोनों वस्तुतः एक ही हैं।

योगशास्त्रमें क्लिष्ट-अक्लिष्ट वृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा है तो तत्त्वार्थसूत्रमें सकषाय-अकषाय प्रवृत्तिके निरोधको 'संवर' कहा है[3]। जो वस्तु योगशास्त्रमें 'योग' शब्दसे कही गई है वही तत्त्वार्थ-सूत्रमें 'संवर' शब्दसे बताई गई है। जिस प्रकार योग क्रमशः विकसित होता हुआ सम्प्रज्ञात दशामेंसे गुजरकर अन्तमें चित्त-विलयमें पर्यवसित होता है उसी प्रकार संवर भी सकषाय प्रवृत्तिके निरोधके बाद अकषाय प्रवृत्तिके निरोधमें पर्यवसित होकर अन्तमें विदेहमुक्ति होनेपर समाप्त होता है।

योगशास्त्रमें सम्प्रज्ञात योगकी चार भूमिकाओंको क्रमशः सिद्ध करनेके कई उपाय बताये हैं। इसी प्रकार असम्प्रज्ञात योग प्राप्तकर उसे पराकाष्ठापर पहुँचानेके उपायोंका भी निर्देश किया गया है। इन सभी उपायोंका संक्षिप्त निर्देश योगशास्त्रके प्रथम पादमें है। उनमेंसे मुख्य ये हैं—(१) अभ्यास, (२) वैराग्य, (३) प्रणिधान अर्थात् जप, (४) मैत्री आदि भावनाएँ, (५)

१. सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः। —तत्त्वार्थसूत्र ६. ५

२. तत्त्वार्थ सूत्र ८. १

३. आस्रवनिरोधः संवरः। —तत्त्वार्थसूत्र ९.१

मन सुस्थ एवं प्रसन्न रह सके ऐसे सूक्ष्मसे महत् तकके किसी भी एक विषयमें उसे स्थिर करने तथा तद्विषयक विचार करनेका ध्यानाभ्यास। तत्त्वार्थसूत्रमें संवरके अंगके रूपमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र तथा तपका उल्लेख है[१]। ध्यान तपका एक महत्त्वपूर्ण भाग—अंग माना गया है[२]। मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षाकी भावना[३] एवं वैराग्य[४]का भी तत्त्वार्थसूत्रमें संवरके उपायोंके रूपमें निर्देश है।

क्रियायोग तथा ध्यानयोगके अभ्याससे अविद्याका संस्कार दूर होते ही प्रकृति-पुरुषके भेदका प्रसंख्यान अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान आविर्भूत होता है तथा अविद्याका मूल नष्ट होते ही तन्मूलक इतर क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं। यह हुई योगशास्त्रकी वर्णन-शैली[५]। तत्त्वार्थसूत्र इसी वस्तुका अन्य शब्दोंमें वर्णन करता है। उसमें बताया गया है कि चारित्र और शुक्ल ध्यानसे मोहनीय कर्म, जो कि पाँच क्लेशरूप है, क्षीण होता है तथा उसके नष्ट होते ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है[६]। केवलज्ञान आत्माका सम्पूर्ण और शुद्ध अपरोक्ष ज्ञान है।

विवेकख्यातिसम्पन्न असम्प्रज्ञात योगी[७] अर्थात् जीवन्मुक्तके

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९. २–३

२. तत्त्वार्थसूत्र ९. २०

३ तत्त्वार्थसूत्र ७. ६

४. तत्त्वार्थसूत्र ७. ७

५. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

—योगदर्शन २.२८

६. तत्त्वार्थसूत्र ९ २९, ३०, ४०; १०. १

७. योगदर्शन १. १८

स्थानपर तत्त्वार्थसूत्रमें सयोगि-केवलीका वर्णन है। असम्प्रज्ञात योगकी चरम अवस्थाके समय होनेवाला सर्ववृत्तिसह चित्तका विलय योगकी परिपूर्ण अवस्था कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार सयोगी अवस्थाका अन्त होनेपर जो सम्पूर्ण योगनिरोध होता है वही साधना-कालकी अन्तिम स्थिति है[१]।

विशुद्धिमार्गमें योग एवं संवरके बजाय समाधि पद है। उसका अर्थ करते हुए बुद्धघोष कहता है कि कुशल चित्तकी एकाग्रता ही समाधि है[२]। उपचार-समाधि समाधिकी प्रारम्भिक अवस्था है। जिस प्रकार छोटा बालक अधिक समय तक खड़ा नहीं रह सकता उसी प्रकार यह प्रारम्भिक समाधि अधिक स्थिर नहीं होती। अभ्याससे स्थिर होनेपर यह अर्पणा-समाधि कहलाती है[३]। यही अर्पणा-समाधि योगशास्त्रमें वर्णित सम्प्रज्ञात योगकी चार भूमिकाओंमें समाविष्ट होती है। किसी एक विषयमें चित्त स्थिर होकर तदाकार बनता है तब अर्पणा होती है। यही स्थिति योगशास्त्रमें समापत्ति पदसे निर्दिष्ट है। स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्म वस्तुमें चित्त एकाग्र होकर जब स्थिर बनता है तब अनुक्रमसे होनेवाली अवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचाररूप चार समापत्तिरूप संप्रज्ञात भूमिकाओंका वर्णन योगशास्त्र में है[४]।

साधकको समाधिके लिए वैराग्यका अभ्यास करना पड़ता है। योगशास्त्र, तत्त्वार्थसूत्र तथा विशुद्धिमार्ग तीनोंमें वैराग्यकी

---

१. देखिये तत्त्वार्थसूत्र सभाष्य दशम अध्याय।

२. कुसलचित्तेकग्गता समाधि।—विसुद्धिमग्ग ३.१

३. विसुद्धिमग्ग ४. ३२ से आगे।

४. योगदर्शन १. १७

आवश्यकता बताई गई है। योगशास्त्र पर और अपर दो प्रकारके वैराग्यका निरूपण करता है। इनमेंसे अपर वैराग्य स्थूल तथा प्रारम्भिक है। यह सम्प्रज्ञात समाधिके लिए उपयोगी है, किन्तु उससे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध नहीं होती। असम्प्रज्ञात समाधिके लिए परवैराग्य आवश्यक है[1]।

अनुभूत तथा श्रुत भौतिक पदार्थोंके आकर्षणसे दूर रहना अपरवैराग्य है। आकर्षित करनेवाले भोग्य पदार्थोंमें अनित्यता अथवा असारताकी दोषबुद्धि उत्पन्न करनेसे उस ओरके आकर्षणमें कमी हो सकती है इस विचारसे योगशास्त्र, तत्त्वार्थसूत्र[2] तथा विशुद्धिमार्गमें[3] अपरवैराग्यका भिन्न-भिन्न रीतिसे स्वरूप बताया गया है। विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि भोग्य विषयोंके दोषदर्शनसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य पुनः भोगवासना प्रगट होते ही क्षणमात्रमें हवा हो जाता है। इसलिए उपाध्याय यशोविजयजीने अपरवैराग्यको दोषदर्शनजनित कहा है[4]। इसका

---

१. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

वितर्कविचारानन्दास्मिताऽनुगमात् सम्प्रज्ञातः।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

—योगदर्शन १. १५–१८ और सूत्रों का व्यासभाष्य।

२. जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम्।

—तत्त्वार्थसूत्र ७. ७ और भाष्य आदि टीकाएँ।

३. विसुद्धिमग्ग ६. ८१ (पृ० १२६) से आगे।

४. विषयदोषजनितमापातधर्मसंन्यासलक्षणं प्रथमम्, सतत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावि तात्त्विकधर्मसंन्यासलक्षणं द्वितीयं वैराग्यम्, यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्ते इत्यस्माकं सिद्धान्तः।

—योगदर्शन अ० १ सूत्र १२ से २६ की यशोविजयजीकी वृत्ति।

अर्थ ज़रा सूक्ष्म दृष्टिसे समझना ठीक होगा। साधक बाह्य भोग्य आकर्षक वस्तुओंमें दोष देखनेके बजाय उस वस्तुके प्रति आकर्षित होनेवाले अपने चित्तमें क्लेश-दोषोंका यथावत् दर्शनचिन्तन करे तो उससे कुछ स्थिर वैराग्य उत्पन्न होता है। जिस समय चित्त किसी सुन्दर वस्तुके प्रति ललचा जाय उस समय साधक उस वस्तुमें असुन्दरताकी भावना लानेके बजाय अपने चित्तमें उत्पन्न होनेवाले राग या भोगवासनाका निरीक्षण करे तथा इस वासनाके निमित्तसे जीवनमें अनुभवमें आनेवाले तरह-तरहके आघात-प्रत्याघातोंका चिन्तन करे तो भोगवासना अवश्य निर्बल हो सकती है। इसी प्रकार अनिष्ट अथवा द्वेष्य वस्तुके प्रति अप्रीति या रोष उत्पन्न हो उस समय चित्तमें उत्पन्न होनेवाली द्वेषवृत्तिके परिणामस्वरूप जीवनमें आनेवाली कटुताका विचार करनेसे जो वैराग्य उत्पन्न होगा वह स्थिर रह सकेगा। इस प्रकारके अपर-वैराग्यकी अपेक्षा भी परवैराग्य अधिक उत्कृष्ट कोटिका है।

परवैराग्य दोषदर्शनसे नहीं, अपितु स्वरूपदर्शनसे उत्पन्न होता है। चित्त बाह्य विषयोंमें निस्सारता आदि दोष देखे अथवा अपनी राग-द्वेष आदि वृत्तियोंका जीवनपर पड़नेवाला बुरा असर देखे इसकी अपेक्षा यदि वह अपने शुद्ध सात्त्विक स्वरूप तथा चेतनाके सहभू निर्मल स्वरूपका अथवा उदात्त आदर्शका विचार करे तो उससे जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह सच्चा एवं सात्त्विक वैराग्य होता है; क्योंकि इस प्रकारके वैराग्यमें चित्तको चेतन-मात्रमें आत्मौपम्य अथवा अभेदका प्रत्यक्षदर्शन होता है और देह, प्राण, मन आदि मूर्त एवं परिमित आयतनोंमें तथा रूप, सत्ता, धन आदिमें बद्ध रखनेवाले आत्मबुद्धिरूप अज्ञानका पर्दा दूर हो जाता है और ऊपरी सतहपर अनुभवमें आनेवाले सुखकी अपेक्षा किसी अपूर्व व स्थिर आनन्दकी प्रतीति होने लगती

है। यही प्रतीति क्लेशोंके संस्कार-बीजको दग्ध करनेमें समर्थ होती है।

योगशास्त्रमें प्रयत्नसाध्य समाधि सिद्ध करनेके लिए पाँच अंग आवश्यक माने गये हैं—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा[1]। इन पाँच अंगोंके बलाबलके विषयमें योगशास्त्रमें कोई विशेष चर्चा नहीं है, किन्तु विशुद्धिमार्गमें इसकी विशेष चर्चा की गई है। उसमें अर्पणासमाधिकी सिद्धिके लिए दस प्रकारके कौशलका[2] उपयोगी तथा रसप्रद वर्णन है। इनमेंसे दूसरे प्रकारके कौशलके रूपमें उक्त पाँच अंगोंके बलाबलकी चर्चा करके उनमें समत्व स्थापित करनेका निर्देश किया गया है।

बुद्धघोषने लिखा है कि श्रद्धा, वीर्य आदि अंग समाधिके लिए आवश्यक हैं सही, पर उनमें असमानता होनेपर वे लाभदायक नहीं होते। श्रद्धा अधिक बलवती हो तो वीर्य आदि अंग अपना-अपना काम ठीक ढंगसे नहीं कर सकते। उसने इस बातको एक दृष्टान्त देकर समझाया है कि वक्कली नामक एक स्थविर बहुत बीमार था। बुद्धके प्रति उसकी बलवती श्रद्धा होनेके कारण वह उनके दर्शनके लिए तरसता था, पर चलकर जानेमें अशक्त था। बुद्धने एक बार खुद ही आकर उससे पूछा कि तुझे तेरा शरीर साथ नहीं देता, तो फिर तू मेरे दर्शनके लिए क्यों तरसता है? मेरा रूपदर्शन मेरा वास्तविक दर्शन नहीं है; मेरे वक्तव्यका हार्द समझना ही मेरा वास्तविक दर्शन है। यों कहकर बुद्धने उस स्थविरको धर्मदर्शनकी ओर प्रेरित किया तथा उसकी प्रज्ञाको उत्तेजित कर श्रद्धा व प्रज्ञाका समत्व स्थापित किया। श्रद्धा

---

१. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। —योगदर्शन १. २०

२. दस प्रकारके कौशलोंके लिए देखो विसुद्धिमग्ग ४. ४२–४६

और प्रज्ञाकी तथा समाधि और वीर्यकी समता अधिक कामकी है; क्योंकि प्रज्ञाविहीन श्रद्धा मूढ़-सी होनेसे उसका अपव्यय होता है, जब कि श्रद्धारहित प्रज्ञा कुतर्कवाद अथवा धूर्ततामें परिणत होती है। इसी प्रकार वीर्यकी मन्दता और समाधिकी सबलता होनेपर जड़ता बढ़ती है तथा समाधिकी अपेक्षा वीर्यकी सबलता होनेपर निरर्थक उपद्रव बढ़ता है। इसलिए इन सब अंगोंको इस प्रकार समुचित करना चाहिये कि उनकी सहायतासे अर्पणा-समाधिमें आगे बढ़ा जाय तथा किसी तरहकी कमीका पोषण न हो।

ध्यानाभ्यास करनेकी इच्छा रखनेवाले साधकको ध्यानमें उपस्थित होनेवाले विक्षेप आदि अन्तरायोंका निवारण करनेके लिए योग्यतानुसार किसी एक स्थूल अथवा सूक्ष्म तत्त्वमें अपने चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास करना पड़ता है। इस प्रकारका अभ्यास तभी सफल होता है जब चित्त निर्मल और प्रसन्न हो। ऐसी निर्मलता और प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिए साधकको चित्तकी मलिनताके निवारणार्थ मैत्री आदि भावनाएँ पुष्ट करनी पड़ती हैं। ऐसी चार भावनाएँ योगशास्त्रमें हैं[1] तथा तत्त्वार्थसूत्र[2] और विशुद्धिमार्गमें[3] भी ये चार भावनाएँ हैं, परन्तु योगशास्त्रकी अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्रसम्मत इनका विषयविभाग कुछ अधिक संगत प्रतीत होता है। विशुद्धिमार्गमें तो इन भावनाओंकी चर्चा इतनी अधिक बुद्धिग्राह्य, रोचक तथा विस्तृत है कि मानो वह भावना-परम्पराका अनुभवसिद्ध विकास ही हो।

---

१. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। —योगसूत्र १. ३३

२. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु। —तत्त्वार्थसूत्र ७. ६

३. विसुद्धिमग्गमें तो समग्र ६ वाँ ब्रह्मविहारनिद्देस देखिये।

योगशास्त्रमें कहा गया है कि दुःखी प्राणीके प्रति उसका दुःख दूर करनेकी वृत्ति रखनी चाहिये। यह बात तत्त्वार्थसूत्र और विशुद्धिमार्गमें भी समान रूपसे कही गई है, किन्तु मैत्रीभावना-विषयक कथनमें कुछ भिन्नता दिखाई देती है। योगशास्त्र सुखी प्राणियोंमें मैत्रीभाव रखनेके लिए कहता है जिससे उनके प्रति ईर्ष्याभाव पैदा न हो, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र कहता है कि केवल सुखी ही नहीं, समस्त प्राणीसृष्टिके प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिये। चारों भावनाओंकी भित्ति है आत्मौपम्य अथवा अभेददृष्टि। ऐसी दृष्टि प्राणीमात्रके प्रति मैत्रीभाव रखनेसे ही बन सकती है। इस प्रकारकी मैत्रीभावनासे ही दुःखियोंका दुःख दूर करनेकी करुणावृत्ति, गुणाधिकके प्रति प्रमोदवृत्ति तथा बिलकुल जड़ सरीखे अपात्रके प्रति माध्यस्थ्य अथवा तटस्थवृत्ति सम्भव हो सकती है।

परन्तु बुद्धघोषने इन चार भावनाओं अथवा ब्रह्मविहारके अभ्यासक्रमका अधिक गहराईसे विचार किया है। उसने लिखा है कि प्राथमिक योगीको सर्वप्रथम एकान्त स्थानमें अनुकूल आसनपर बैठकर चित्तगत मलोंकी हीनता तथा मलशुद्धिकी उत्तमताका विचार करना चाहिये, जिससे यह विश्वास हो कि मलनिवारण करने योग्य है तथा मलशुद्धि ही सिद्ध करने योग्य है। इतना विश्वास पक्का होनेपर योगीको सर्वप्रथम मैत्रीभावना-का सेवन करना चाहिये। इसका भी क्रम है और वह यों है। योगीको अप्रियके प्रति, अतिप्रिय सहायकके प्रति, मध्यस्थके प्रति तथा शत्रुके प्रति मैत्रीभावना रखनेकी शुरुआत नहीं करनी चाहिये। मृत व्यक्तिके विषयमें तो इस प्रकारकी भावनाकी आवश्यकता ही नहीं रहती। विजातीय विषयक मैत्रीभावनाका प्रारम्भ करना हो तो केवल किसी एक व्यक्तिमें सीमित होकर

वैसी भावना नहीं करनी चाहिये। इस कथनका स्पष्टीकरण करते हुए बुद्धघोषने लिखा है कि अप्रियको प्रियके स्थानमें स्थापित करनेसे चित्तमें पहलेपहल ग्लानिका अनुभव होता है। इसी प्रकार अतिप्रिय सहायक व्यक्तिको मध्यस्थस्थानमें रखनेसे भी चित्तमें ग्लानिका अनुभव होता है, क्योंकि वैसे अतिप्रिय सहायकका थोड़ासा भी दुःख देखकर चित्त द्रवित हो जाता है। मध्यस्थको प्रारम्भमें उच्च स्थानपर अथवा प्रिय स्थानपर रखनेसे चित्तमें खेदका अनुभव होता है तथा वैरीसे मैत्रीकी शुरुआत करनेपर वैरस्मरणके कारण क्रोध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पुरुषको स्त्रीसे और स्त्रीको पुरुषसे मैत्रीभावनाका प्रारम्भ नहीं करना अन्यथा वैसी मैत्रीभावना करनेसे उलटा राग उत्पन्न होता है और पतन होता है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए बुद्धघोषने एक रोचक दृष्टान्त दिया है। किसी मंत्रीपुत्रने एक स्थविरसे पूछा कि मुझे मैत्रीभावना किस विषयसे प्रारम्भ करनी चाहिये? स्थविरने उत्तर दिया कि प्रिय विषयसे। प्रश्नकर्ताको उसकी पत्नी ही अधिक प्यारी थी, अतः उसने उसीमें मैत्रीभावना प्रारम्भ की। उसने पत्नीमें मैत्रीभावना करते-करते सारी रात कामोन्मादका अनुभव किया। इससे स्पष्ट है कि किसी भी साधकको विजातीय प्रिय व्यक्तिमें बद्ध होकर मैत्रीसेवनका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। मृत व्यक्तिमें की जानेवाली मैत्री तो कभी सिद्ध होती ही नहीं।

बुद्धघोषने यह भी स्पष्ट किया है कि सर्वप्रथम 'मैं सुखी होऊँ, कभी भी दुःखी न होऊँ, ऐसी भावना करनी चाहिये। इस भावनाकी दृढ़ताके बाद मैत्रीभावमूलक समस्त प्राणियोंके सुखकी अभिलाषा करनी चाहिये। साधकको इसीसे सन्तुष्ट न रहकर अप्रिय, अतिप्रिय सहायक तथा वैरी व्यक्ति—इस प्रकार सबके प्रति

मैत्रीभावका सेवन करना चाहिये। मैत्रीभाव सेवन करनेकी लम्बी प्रक्रियाका एवं उसमें उपस्थित होनेवाले चित्तके आघातोंका प्रतीकार किस प्रकार करना चाहिये इत्यादि बातोंका विस्तृत एवं दृष्टान्तपूर्वक वर्णन करनेके बाद अन्तमें मैत्रीभावना सिद्ध हुई कि नहीं यह जाननेकी कसौटीके तौरपर बुद्धघोषने जो बात कही है वह ध्यान देने योग्य है। वह कहता है कि प्रिय, मध्यस्थ तथा वैरी ये तीन और साधक स्वयं इस प्रकार चारों एक स्थानपर बैठे हों। इतनेमें कोई हत्यारा आकर उनमेंसे एककी बलिके लिए याचना करे तो मैत्री-सिद्ध-साधकको क्या सोचना चाहिये ? इस प्रकारका साधक यह नहीं सोचे कि अमुक किसी एकको हत्यारा ले जाय। वह खुद उसे ही पकड़कर ले जाय ऐसा भी न सोचे, क्योंकि ऐसा सोचनेपर मैत्रीविरोधी पक्षपात सिद्ध होता है। अतः 'इन चारोंमेंसे कोई भी हत्यारेको देने योग्य नहीं है' ऐसा वह सोचे तभी उसका चित्त चारोंके विषयमें सम तथा मैत्रीभावनावाला है ऐसा समझना चाहिये।

चित्त तथा चेतन तत्त्व इतना अधिक सूक्ष्म और अमूर्त है कि कोई भी ध्यानाभ्यासी इन्द्रियानुगमन करनेमें अभ्यस्त बने हुए बहिर्मुख चित्तको सरलतापूर्वक अन्तर्मुख करके उसे स्वयं अपने स्वरूपका अथवा चेतनके स्वरूपका स्थिरतापूर्वक विचार करनेवाला नहीं बना सकता। इसीलिए ध्यानाभ्यासमें चित्तके वशीकरणकी प्रक्रियाका समावेश किया गया है। इस प्रक्रियाका अर्थ है धीरे-धीरे स्थूलसे सूक्ष्मका तथा सूक्ष्मसे सूक्ष्मतरका स्थिरतापूर्वक चिन्तन करनेका अभ्यास। ऐसा करते-करते चित्त इतना अधिक बल प्राप्त कर लेता है कि वह परमाणुके समान सूक्ष्मतम पदार्थका तथा आकाशके समान अतिमहान् तथा अमूर्त पदार्थका इच्छानुसार एवं सुखपूर्वक स्थिरतासे चिन्तन कर सकता है।

इसीका नाम है चित्तका वशीकरण[1]। इस प्रकारका वशीकरण सिद्ध होनेपर चित्त अपने भीतर गहरीसे गहरी सतहमें पड़े हुए वासनासंस्कारोंका यथावत् निरीक्षण कर सकता है और यह जान सकता है कि वे वासना-संस्कार जीवनके दृश्यपटपर किस किस प्रकार आविर्भूत होते हैं। इस ज्ञानसे उसे वासनाके बलाबलके तथा उन्हें ऊर्ध्वीकृत करनेके नियमोंका पता लगता है जिससे वह अपना सम्पूर्ण बल ऊर्ध्वीकरणकी प्रक्रियामें उत्साहपूर्वक लगा देता है।

चित्त जब शक्तियोंके ऊर्ध्वीकरणकी इस प्रक्रियामें तल्लीन होता है तब उसे तुरन्त ही समझमें आ जाता है कि आत्मौपम्य अथवा अभेद दर्शनसे होनेवाले आनन्दका रहस्य क्या है। उसे तुरन्त ही पता लग जाता है कि मूर्त पदार्थ तथा उनसे सम्बद्ध कीर्ति, सत्ता आदि भावोंकी अभिलाषा किसी भी तरह सन्तुष्ट नहीं की जा सकती; उलटी सन्तुष्ट करनेपर वह अधिकाधिक तीव्र बनती जाती है, और यही तीव्रता पुनः प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होनेपर निर्वेद तथा अरुचि उत्पन्न करनेवाली बनती है। आत्मौपम्य तथा अभेददृष्टिका मार्ग इससे विपरीत है। जब योगी प्राणीमात्रमें अपने जैसे ही स्पन्दमान चैतन्यकी दृढ़ प्रतीति करता है तब उसके अहन्त्व-ममत्वका केन्द्र एकमात्र चैतन्य ही रहता है। चैतन्य एक ऐसी वस्तु है जिसमें किसीकी प्रतिस्पर्धाका सम्भव नहीं और न परिमित एवं मूर्त भावोंसे उत्पन्न होनेवाले आघात-प्रत्याघातोंका भी सम्भव। अतएव आगे बढ़ते-बढ़ते जब साधककी अहन्त्व-ममत्व बुद्धि चेतनमात्रमें स्थिर होती है तब अन्य वस्तुओं-में पहलेसे चली आनेवाली अहन्त्वबुद्धि तथा तन्मूलक ममत्वका अनायास ही नाश हो जाता है। ऐसा होते ही चित्त और

---

१. परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः— योगसूत्र १. ४०

चैतन्यकी ज्ञान, संकल्प आदि समस्त शक्तियाँ उन्मुक्त होकर अविसंवादी रूपमें काम करने लगती हैं। यही स्थिति योगीकी सिद्धि अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। इस प्रज्ञामें वस्तुके यथार्थ स्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता; फलतः चित्त-चैतन्यमें व्युत्थान अथवा बहिर्मुखताके संस्कार पड़ने बन्द हो जाते हैं।[1]

ध्यानाभ्यासके बारेमें निम्नलिखित प्रश्न उपस्थित होते हैं। इन्हें समझे बिना साधक साध्य एवं साधनके विषयमें निःशंक नहीं हो सकता। वे प्रश्न ये हैं—

(१) अविद्या यदि एक प्रकारका ज्ञान है तो अध्यात्मविचारमें उसका विषय कहाँसे कहाँ तक गिनना चाहिये, तथा विद्याका विषय कहाँसे प्रारम्भ होता है? (२) अविद्यामें ऐसा कौन-सा तत्त्व है जिसके कारण उससे अस्थिरता, राग, द्वेष आदि क्लेश अनिवार्यतः उत्पन्न हों? (३) विद्यामें ऐसा कौनसा तत्त्व है जिसका आविर्भाव होते ही अविद्या सहित बाक़ीके क्लेश सबीज नष्ट हो जाते हैं? (४) जिस प्रकार पहले अविद्यमान विद्या कालान्तरमें प्रकट होती है उसी प्रकार एक बार नष्ट हो जानेपर भी अविद्या पुनः कालान्तरमें प्रकट नहीं होती—इस मान्यताका क्या आधार है?

(१) जिस-जिसमें अहंत्वका भान होता है तथा इस भानके कारण ममत्वबुद्धि उत्पन्न होती है वह सब आत्मबुद्धिका विषय है, किन्तु जो वस्तुएँ मूर्त, परिमित एवं भोग्य होनेके कारण प्रयत्नसे प्राप्त की जाती हैं तथा प्रयत्नसे ही सुरक्षित रहती हैं वे सब अहंभावका

---

१. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। —योगसूत्र १. ४८–५०

विषय होनेपर भी अविद्याका विषय हैं। जो वस्तु अप्राप्त नहीं है, जिसे प्राप्त करने अथवा सुरक्षित रखनेके लिए किसी भी प्रकारका बाह्य प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जो ज्ञानमात्रसे ही सिद्ध है वह विद्याका विषय है। इस व्याख्याके अनुसार शरीर, प्राण, मन, सत्ता, यश, सम्पत्ति, पुत्र आदि सब कुछ अविद्याके विषयमें समाविष्ट है, क्योंकि यह सब प्रयत्नसे ही प्राप्त करना और प्रयत्नसे ही सुरक्षित रखना पड़ता है। इन समस्त मूर्त भावोंसे तथा तन्मूलक अन्य भावोंसे परे जो चेतन तत्त्व है वह विद्याका विषय है, क्योंकि किसीको उसे प्रयत्नसे पैदा करनेकी, प्राप्त करनेकी अथवा सुरक्षित रखनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती; केवल उसे पहचाननेकी ही आवश्यकता होती है।

(२) अहन्त्वकी अपरिमित सहजवृत्ति परिमित भावोंमें सन्तुष्ट नहीं होती। यही अविद्याका अविद्यापन है। इसके कारण जीव अनेक नये-नये पदार्थ प्राप्त करने, प्राप्त पदार्थोंको सुरक्षित रखने तथा उनका परिमाण बढ़ानेकी इच्छा करता है और इसकी पूर्तिके लिए तड़फता रहता है। बाह्य सामग्री प्राप्त करने और उसकी रक्षा करनेमें अनिवार्यतः प्रतिस्पर्धा तथा हिस्सेदारीके विघ्न उपस्थित होनेपर उसकी रागवृत्तिको आघात लगता है। फलतः वह द्वेषभावमें परिणत हो जाती है तथा अभिनिवेशसे मुक्ति नहीं मिलती। यही अविद्याका इतर क्लेशोंके प्रति अनिवार्य सम्बन्ध अर्थात् क्षेत्रत्व है।

(३) अपरिमित अहन्त्वकी वृत्ति जब सदा सन्निहित तथा केवल ज्ञेयरूप अपरिमित चेतनतत्त्वमें आकर ठहर जाती है तब उसके लिए अन्य कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता, जो है उसके नाशका भी भय नहीं रहता तथा उसमें हिस्सेदारी अथवा प्रतिस्पर्धाकी स्थिति भी उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार किसी भाँतिके

आघात-प्रत्याघातका अभाव होनेके कारण अप्रीति व द्वेष आदि वृत्तियाँ भी उत्पन्न नहीं होतीं। अतः विद्याका उदय होनेपर अहन्त्व-की वृत्तिरूप अविद्याके साथ-ही-साथ उसके परिवाररूप इतर क्लेश भी सबीज नष्ट हो जाते हैं।

(४) शुद्ध चेतन स्वयं ही मुख्य अहंबुद्धिका केन्द्र है। यह बुद्धि परिमित तथा अचेतन भावोंके भ्रान्त केन्द्रोंको छोड़कर जब मूल एवं अन्तिम केन्द्रमें स्थिर होती है तब उसे अल्पकी ओर मुड़नेका रस ही नहीं रहता, क्योंकि उसे अल्प केन्द्रके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होनेवाले क्लेशचक्रका अनुभव हो चुका होता है जो मुख्य केन्द्र अर्थात् शुद्ध चैतन्यकी विद्यमानतामें सर्वथा विलीन हो जाता है। विद्याका विषय तथा उसकी सहजवृत्ति ऐसी होनेसे अब अविद्याके उद्भवके लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता, जब कि अविद्याकी दशामें विद्याके उद्भवके लिए पूर्ण अवकाश रहता है[१]।

---

१. यह सच है कि विद्या अथवा सत्यज्ञानसे अविद्या अथवा मिथ्या-ज्ञानका नाश होता है, परन्तु इसी न्यायसे पुनः अविद्या उत्पन्न होकर विद्याका नाश क्यों नहीं करती ? और यदि ऐसा हो तो पूर्ण सत्यज्ञान प्राप्त होनेके बाद भी क्या कभी पुनः अविद्या उत्पन्न होगी ? प्राचीनकालमें दार्शनिकों एवं साधकोंके सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। इसका बुद्धिगम्य उत्तर भी उन्होंने दिया है। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक परिच्छेद १ श्लोक २२३-४ में लिखा है—

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधा यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥

—अर्थात् बुद्धिका पक्षपात हमेशा यथार्थज्ञानके प्रति ही होता है। इसलिए किसी भी विषयका यथार्थज्ञान एक बार पूर्ण रूपसे होनेपर तथा एकरसता प्राप्त हो जानेपर बुद्धि कभी भी मिथ्याज्ञानकी ओर नहीं झुकती। (विशेष विवरणके लिए देखो कर्णगोमिवृत्ति (पृ० ३६९)

ध्यानाभ्यास तथा यम आदि अन्य उपायोंके अनुष्ठानके

धर्मकीर्तिने जो वस्तु संक्षेपमें कही उसका अतिस्पष्ट विस्तार शान्तरक्षित तथा उसके शिष्य कमलशीलने इस प्रकार किया है—

प्रत्यक्षीकृतनैरात्म्ये न दोषो लभते स्थितिम्।

तद्विरुद्धतया दीप्रे प्रदीपे तिमिरं यथा।—तत्त्वसंग्रह श्लो० ३३३८

इसकी व्याख्या करते हुए कमलशील कहता है—

अतएव क्लेशगणोऽत्यन्तसमुद्धतोऽपि नैरात्म्यदर्शनसामर्थ्यमस्योन्मूलयितुमसमर्थः। आगन्तुकप्रत्ययकृतत्वेनाऽदृढत्वात्। नैरात्म्यं तु स्वभावत्वात् प्रमाणसहायत्वाच्च बलवदिति तुल्येऽपि विरोधित्वे आत्मदर्शने प्रतिपक्षो व्यवस्थाप्यते। न चाऽऽत्मदर्शनं तस्य तद्विपरीतत्वात्।

—तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ० ८७३

ईश्वरकृष्णकी ६४ वीं सांख्यकारिका इस प्रकार है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्रने प्रश्न उठाया है कि तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानका नाश होनेपर भी पुनः अनादि मिथ्याज्ञानकी वासना इस तत्त्वज्ञानका निवारण क्यों न करेगी? इसका जो उत्तर सांख्यतत्त्वकौमुदीमें दिया गया है वह न केवल धर्मकीर्ति तथा शान्तरक्षितके उत्तरके समान ही है, अपितु वाचस्पति मिश्रने अपने कथनके समर्थनमें 'यदाहुर्बाह्या अपि' कहकर जो कारिका उद्धृत की है वह उपर्युक्त प्रमाणवार्तिककी ही कारिका है। अब हम वाचस्पति मिश्रका पूर्वोत्तर पक्ष उन्हींके शब्दोंमें देखें—

स्यादेतत्—उत्पद्यतामीदृशाभ्यासात् तत्त्वज्ञानं तथाप्यनादिना मिथ्याज्ञानसंस्कारेण मिथ्याज्ञानं जनितव्यम्। तथा च तन्निबन्धनस्य संसारस्यानुच्छेदप्रसंग इत्यत उक्तं 'केवलम्' इति—विपर्ययेणाऽसम्भिन्नम्।

परिणामस्वरूप प्रकृति अर्थात् जड़से भिन्न चेतन तत्त्वका जब अपरोक्ष साक्षात्कार होता है तभी वह पक्क विद्याकी श्रेणीमें आता है। इसीको सांख्य-योग शास्त्रमें विवेकख्याति[1], बौद्ध ग्रन्थोंमें प्रज्ञा तथा जैन-शास्त्रमें केवलज्ञान कहते हैं।

आध्यात्मिक अविद्याके अस्तित्वके समय क्लेशोंका अस्तित्व अनिवार्यतः होता है यह सच है, किन्तु राग-द्वेष आदि क्लेश जीवनमें हमेशा एकसे अनुभवमें नहीं आते। इस दृष्टिसे योग-शास्त्रमें क्लेशोंकी चार अवस्थाएँ मानी गई हैं—(१) जो क्लेश अपनी वृत्ति प्रकट कर रहा हो वह उसकी उदार-अवस्था है। उदाहरणार्थ, राग क्लेश कामवृत्ति अथवा लोभके रूपमें आविर्भूत होनेपर उदार अर्थात् उदयमान कहलाता है। (२) प्रतिपक्षी क्लेशके बलके कारण जो क्लेश अमुक समयतक दबा रहता है वह विच्छिन्न कहा जाता है। उदाहरणार्थ, जब क्रोध भभकता हो तब राग दबा रहता है। (३) आध्यात्मिक चिन्तन-मननके कारण अथवा तप-स्वाध्याय आदि क्रियायोगके अभ्यासके कारण क्लेशोंका बल कम होने पर जो अवस्था होती है उसे तनु-अवस्था कहते हैं। (४) जो क्लेश अन्तर्मनमें बीज अथवा संस्कारके रूपमें रहते हों, परन्तु जिनका कार्य अनुभवमें न आता हो वे प्रसुप्त कहलाते हैं[2]।

यद्यप्यनादिर्विपर्ययवासना तथाऽपि तत्त्वज्ञानवासनया तत्त्वविषयसाक्षात्कार-मादधत्याऽऽदिमत्याऽपि शक्या समुच्छेत्तुम्। तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः। यदाहुर्बाह्या अपि····।

१. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। —योगसूत्र २. २६

२. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।
—योगसूत्र २. ४ तथा भाष्य

यही बात जैनपरम्परामें दूसरी परिभाषामें कही गई है। जैसे कि—(१) उदार अर्थात् भोगे जानेवाले उदीयमान कर्म। (२) विच्छिन्न अर्थात् विरोधी कर्मसे अभिभूत अथवा अनुदित अवस्थाप्राप्त कर्म। (३) तनुता अर्थात् क्षयोपशम अथवा उपशमदशाप्राप्त कर्म। (४) प्रसुप्त अर्थात् बद्ध होनेपर भी कालके अपरिपाकके कारण सत्तामें रहनेवाले यानी सत्तागत कर्म[1]।

बौद्ध-परम्परा भी क्लेशोंकी इस प्रकारकी तारतम्ययुक्त अवस्थाओंका वर्णन करती है।[2]

जब अपरोक्ष आत्म-प्रत्यय प्रकट होकर स्थिर होता है तब क्लेशोंकी उपर्युक्त चारों अवस्थाएँ नहीं रहतीं। उस समय एक पंचम अवस्था प्रकट होती है। उस अवस्थाका नाम है दग्धबीज अवस्था।[3] इस अवस्थामें क्लेश पुराने संस्काररूपमें विद्यमान

---

१. अत्राऽविद्यादयो मोहनीयकर्मण औदयिकभावविशेषाः। तेषां प्रसुप्तत्वं तज्जनककर्मणोऽबाधाकालापरिक्षयेण कर्मनिषेकाभावः। तनुत्वमुपशमः क्षयोपशमो वा। विच्छिन्नत्वं प्रतिपक्षप्रकृत्युदयादिनाऽन्तरितत्वम्। उदारत्वं चोदयावलिकाप्राप्तत्वम्, इत्यवसेयम्।

—योगदर्शन २. ४ की यशोविजयजीकी वृत्ति

२. सोतापत्ति आदि भूमिकाओंमें दस संयोजना अथवा क्लेशोंके ह्रासका क्रमशः वर्णन किया जाता है, जो अभिधम्म ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है।

यस्मादनादिकालाभ्यासादत्यन्तोपारूढमूलत्वान्मलानां क्रमेणैव विपक्षवृद्धया अवह्रसतां क्षयो न तु सकृच्छ्रवणेन।—तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ० ८७५

३. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। —योगसूत्र ३. ५०

...एवं अस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति।

—उपर्युक्त योगसूत्र ३. ५० का भाष्य

हों तब भी उनका वृत्तिके रूपमें आविर्भूत होनेका सामर्थ्य सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार जले बीजमेंसे अंकुर नहीं निकलता उसी प्रकार दग्धबीज क्लेश अपना कार्य करनेमें असमर्थ होते हैं। इस पंचम अवस्थाका वर्णन भी पूर्णयोगदशाके वर्णनके समय योग, जैन और बौद्ध इन तीनों परम्पराओंने किया है।

क्लेशोंकी उपर्युक्त चार अवस्थाओंसे मुक्त होकर पंचम अवस्था तक पहुँचना ही आध्यात्मिक साधनाका क्रमिक विकास है। इस प्रकारके विकासका तारतम्य ज्ञेयावरण तथा क्लेशावरणके बलाबल तथा साहजिक सद्गुणोंकी मात्रापर अवलम्बित रहता है। ऐसे विकास तारतम्यका निरूपण प्रत्येक आध्यात्मिक परम्पराने अपने-अपने ढंगसे संक्षेपमें अथवा विस्तारसे किया है। योगशास्त्र चार भूमिकाओंमें इस तारतम्यका निरूपण करता है तो जैन-परम्परा चौदह भूमिकाओंमें तथा बौद्ध-परम्परा चार अथवा दस भूमिकाओंमें इस तारतम्यका विवेचन करती है। योगवासिष्ठ इस प्रकारकी चौदह भूमिकाओंका वर्णन करता है तो आजीवक परम्परा आठ भूमिकाओंका वर्णन करती है[1]।

आध्यात्मिक साधकोंके क्षेत्रमें एक चर्चा बहुत प्रसिद्ध है। वह चर्चा ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग तथा कर्ममार्गसे सम्बन्ध रखती है। वैसे तो इस विचार तथा चर्चाका मूल अतिप्राचीन है, किन्तु

ततः क्षीणचतुःकर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्।
बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः॥

× × ×

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवाङ्कुरः॥

—तत्त्वार्थभाष्यगत अंतिम कारिकाएँ ५.८,

१. योगशतक (गुजराती) परिशिष्ट ५ पृ० १२८

गीताके व्याख्याभेदके कारण इसने आज भी अनेक प्रकारसे विचारकोंका ध्यान आकर्षित किया है। कोई गीताका तात्पर्यार्थ ज्ञानयोगके रूपमें निकालता है तो कोई भक्ति अथवा कर्मयोगके रूपमें। प्रत्येक पक्ष अपने अभिप्रेत तात्पर्यको मुख्य तथा अन्यको उसका अंगरूप मानता है। इस प्रकार प्रत्येकको ज्ञान, भक्ति तथा कर्मयोग मान्य है, किन्तु उनका मतभेद गौणता-मुख्यताविषयक है। गीता एक अखण्ड ग्रन्थ है। उसमें ये तीनों योग निरूपित हैं। इसलिए इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि ज्ञान, भक्ति तथा कर्मयोगरूप तीनों आध्यात्मिक मार्ग साधकों तथा तत्त्वचिन्तकोंको मान्य हैं। अधिकार और रुचिभेदके कारण किसी एक व्यक्तिमें एक मार्गका प्राधान्य होता है तो दूसरे व्यक्तिमें दूसरे मार्गका। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, पर यहाँ तो सोचना यह है कि इस प्रकारके अधिकार तथा रुचिभेदका पोषण करनेवाली दार्शनिक भूमिका कौन-सी है ?

इसका उत्तर दार्शनिक मान्यताभेदके अध्ययनसे प्राप्त हो जाता है। जो परम्पराएँ ईश्वरकर्तृत्ववादी नहीं हैं (यथा जैन, बौद्ध और सांख्य) तथा जो परम्परा द्वैतवादी नहीं है (यथा केवलाद्वैत) उनमें मोक्षके उपायके रूपमें ज्ञानमार्गका ही प्राधान्य हो सकता है। प्रपत्ति जैसी उत्कट कोटिकी भक्ति स्रष्टा और न्यायदाताको स्वीकार किये बिना सहज भावसे न तो हृदयमें उत्पन्न ही हो सकती है और न टिक ही सकती है। सर्वार्पण भक्ति तभी सम्भव हो सकती है जब साधक अपने विकास अथवा उद्धारके लिए किसीपर दृढ़ विश्वास रखता हो। स्वतंत्र ईश्वर न माननेवाले द्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी इस प्रकारकी किसी अनुग्रह करनेवाली विभूतिको नहीं मानते, अतः उनमें ऐसी सर्वार्पणकी वृत्ति उदित ही नहीं हो सकती। इस प्रकारके

साधकोंमें श्रद्धाका तत्त्व तो होता ही है और इसीलिए वे 'बुद्धं सरणं गच्छामि' अथवा 'अरिहन्ते सरणं पवज्जामि' कहकर अपने-अपने प्रवर्तकोंके प्रति पूर्ण आदर प्रकट करते हैं; फिर भी वे मनमें इतना तो स्पष्ट रूपसे जानते ही हैं कि बुद्ध या अरिहन्त सर्वथा वीतराग होनेके कारण किसीपर अनुग्रह अथवा निग्रह नहीं कर सकते। केवलाद्वैती तो केवल ब्रह्मतत्त्वको ही पारमार्थिक मानता है। उसकी इस मान्यतामें ईश्वर जैसा कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं होता; वह तो केवल सोपाधिक तथा काल्पनिक वस्तु है। अतः द्वैतसापेक्ष सर्वार्पणकी वृत्ति उसमें भी उदित नहीं हो सकती। इसलिए अनीश्वरवादी द्वैत एवं केवलाद्वैत परम्परामें प्रपत्तिरूप परमभक्तिका मार्ग विकसित होना सम्भव ही नहीं होता। हुआ भी ऐसा ही। अतएव हम देखते हैं कि सांख्यदर्शनमें मोक्षके उपायके तौरपर मुख्य रूपसे विवेकख्यातिका ही निरूपण है, और इसीलिए हम सांख्यदर्शनावलम्बी योगशास्त्रमें भी देखते हैं कि उसमें अविप्लव-विवेकख्यातिको ही हानोपायके रूपमें स्वीकार किया गया है। सांख्यदर्शनमें अथवा सांख्यदर्शनावलम्बी योगशास्त्रमें भक्ति-अंगका निरूपण ही नहीं है। यह सही है कि योगशास्त्रने ईश्वरतत्त्वका निर्देश कर उसके जपको साधनामें स्थान दिया है, किन्तु यह तो भिन्न-भिन्न परम्पराओंके साधकोंके रुचिभेदको लक्षमें रखकर एक विकल्पके तौरपर ही स्वीकार किया गया है। यह तो योगशास्त्रकी सर्वसंग्राहकताका केवल एक लक्षण कहा जा सकता है। इसे सांख्यदर्शनका मूल मंत्र नहीं कहा जा सकता। सांख्यदर्शनकी ही भाँति बौद्धदर्शनने भी मोक्षके उपायोंमें प्रज्ञाको ही सर्वोपरि स्थान दिया है। जैनपरम्परामें भी यही बात है। यद्यपि शब्दतः जैनपरम्परा मोक्षमार्गके रूपमें चारित्रको अन्तिम स्थान देती है, किन्तु सूक्ष्मतासे विचार करनेपर उसका

तात्पर्य केवलज्ञानके रूपमें ही फलित होता है। चारित्रकी पूर्णताका अर्थ है मोहका सर्वथा क्षय। मोहका क्षय होते ही केवलज्ञान प्रकट होता है जो सांख्यकी विवेकख्याति यानी ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा बौद्धकी प्रज्ञाके ही समान है। केवलज्ञान होनेके बादका जीवनकाल तो जीवन्मुक्त दशा है। ऐसी दशाका वर्णन सांख्य और बौद्धमें भी मिलता ही है। इसी तरह केवलाद्वैत ब्रह्मवादी भी ब्रह्मभाव अर्थात् ब्राह्मी स्थितिके अन्तिम एवं मुख्य उपायके तौरपर जीव-ब्रह्मके अभेदज्ञानको ही मानता है। इस अभेदका श्रवण-मननसे अपरोक्ष ज्ञान होते ही तुरन्त मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनुग्रह करनेमें समर्थ स्वतंत्र ईश्वर-तत्त्वको न माननेवाली किसी भी मोक्षवादी दर्शन-परम्परामें प्रपत्तिभक्तिका स्थान ही नहीं है।

इससे विपरीत जो अनुग्रहसमर्थ स्वतंत्र ईश्वर अथवा ब्रह्म-तत्त्वको मानते हैं (यथा विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती तथा द्वैतवादी मध्व आदि) उनकी परम्परामें प्रपत्तिस्वरूप भक्तिका तत्त्व ही मुख्य रूपसे विकसित हुआ है और वही मोक्षका अन्तिम उपाय माना गया है। आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि तो भक्तिके पोषक अंग हैं।

कर्ममार्गके उत्थान तथा उसकी स्थापनाके पीछे एक भिन्न ही दृष्टि रही है। वह दृष्टि है लोकसंग्रह अर्थात् सबके क्षेम या श्रेयकी। साधक जबतक ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्गद्वारा मुख्य रूपसे अपने वैयक्तिक श्रेयका विचार करता है तबतक ये दोनों मार्ग कर्ममार्गकी भूमिका नहीं बन सकते, परन्तु जब ज्ञानमार्गी अथवा भक्तिमार्गी अपने श्रेयके अतिरिक्त लोकसंग्रह—लोककल्याणकी भावनाका विकास करता है तब उसका ज्ञानमार्ग अथवा भक्तिमार्ग कर्म-मार्गकी भूमिका बन जाता है। इस प्रकार कर्ममार्गका अवलम्बन न लेनेवाले ज्ञानी और भक्त भी विभिन्न परम्पराओंमें हुए हैं

तथा लोकसंग्रहकी भावनावाले ज्ञानमार्गी या भक्तिमार्गी भी होते आये हैं जिन्होंने कर्ममार्गको ठीक-ठीक विकसाया है।

गीता मुख्य रूपसे लोकसंग्रहकी दृष्टि रखकर कर्ममार्गका समर्थन करती है, पर वह ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग दोनोंकी भूमिकाको स्वीकार करके ही। दूसरे अध्यायमें जहाँ तक (श्लोक ३८ तक) सांख्यबुद्धिका मुख्य निरूपण किया है वहाँतक सांख्यकी ज्ञानमार्गकी भूमिका स्वीकार करके उसमें भी यह लोकसंग्राही कर्म-मार्गकी स्थापना करती है। जहाँसे योगनिष्ठाका अवलम्बन लेकर निरूपण प्रारम्भ किया है वहाँसे इसने योगसाधनाके विविध मार्गों तथा उनके द्वारा उत्पन्न होनेवाली विविध भूमिकाओंका आश्रय लेकर मुख्यरूपसे अर्पणस्वरूप भक्तिकी भूमिकापर ही कर्ममार्गकी स्थापना की है, और इस सर्वार्पणरूप प्रपत्ति-भक्तिको केन्द्रमें रखकर ही कर्ममार्गका प्राणप्रद तत्त्व प्रदर्शित किया है। इस प्रकार गीतामें सांख्यके ज्ञानयोग तथा भागवतके भक्तियोग-को लोकसंग्राही कर्मयोगके साथ मिलाकर इन दोनों योगोंके वैयक्तिक मोक्षसाधनरूप प्राचीन स्वरूपका विकास किया गया है।

जैनपरम्पराने प्रवृत्तिलक्षी अंगकी अपेक्षा निवृत्तिलक्षी अंग-पर अधिक भार दिया है, इसलिए वह बौद्ध स्थविरमार्गकी भाँति वैयक्तिक मोक्षकी चर्चामें ही विशेष रस लेती रही है। जब बौद्ध-परम्परामें केवल वैयक्तिक मोक्षकी चर्चाने असन्तोष उत्पन्न किया तब उसमेंसे महायानी पंथ फूट निकला। उसने सर्वसंग्राही—सर्वकल्याणकारी दृष्टिका विकास एवं स्थापन यहाँतक किया कि जबतक एक भी प्राणी बद्ध हो तबतक वैयक्तिक मोक्ष शुष्क एवं रसविहीन है[1]। गीता और महायान दोनों अपने-अपने ढंगसे

१. एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तकृत्॥ ३. ६

लोकसंग्राही कर्ममार्गका ही निरूपण करते हैं। इससे एक बात स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें वैयक्तिक मोक्षके लिए साधना करनेवाले साधकोंके आसपासके जिज्ञासुमण्डलमें मुख्यतया जो आत्मश्रेयलक्षी दृष्टि थी वह धीरे-धीरे ऐतिहासिक परिबलोंके कारण बदली तथा उसका भिन्न-भिन्न परम्पराओंमें भिन्न-भिन्न ढंगसे विकास हुआ। यह विकास गीतामें एक ढंगसे हुआ है तो महायानमें दूसरे ढंगसे हुआ है। यहाँतक कि इस लोकसंग्राही कर्ममार्गकी दुन्दुभि अद्वैतवादी विवेकानन्द, परमवैष्णव गाँधीजी तथा योगी श्रीअरविन्दने भी बजाई और चारों ओर इसकी प्रतिष्ठा स्थापित हुई।

—:०:—

मुच्यमानेषु सर्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥ ८. १०८

—बोधिचर्यावतार

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

अनुक्रमणिका

[पा० टि० पाद-टिप्पनका सूचक है।]

अंगुत्तरनिकाय ४२ (पा० टि०)
अकुशल कर्म ४०
अक्लिष्ट वृत्ति १०७, १०९-१०
अक्षपाद ६७, ६८
अक्षर ब्रह्म ८६
अग्निवेश १९
अज्ञान ११४
अणुजीववादी ६९;—रामानुज, वल्लभ ७४;—जीवात्मवादी ८६;—परिमाण ८१; भाष्य ६८ (पा० टि०)
अणुव्रत १०४
अद्वैत—दर्शन ८१;—परिणाम-वादमेंसे द्वैतकूटस्थवादका विकास २९;—वाद ७८
अनात्मवाद १३, २४;—विविध मन्तव्य १३, २४
अनिर्वचनीय माया ३१
अनुप्रेक्षा १११
अनेकदेववाद ५३, ५५
अनेकात्मवादी ८४
अन्न (चेतनभूमिका) १०१
अपवर्ग ७६
अभिधम्मत्थसंगहो ४२ (पा.टि.)
अभिधर्म ४२
अभिनिवेश ९६, ११० देखो 'क्लेश'
अभ्यास ११० देखो 'योग'
अरविन्द १३२
अरिहन्त १२९
अरूपी स्कन्ध ४१
अर्पणा समाधि ११२, ११६ देखो 'समाधि'
अर्हत् ६०;—जीवन्मुक्तका पर्याय बौद्धमें ६३
अविकृत-परिणामी ब्रह्म, वल्लभमें ६८
अवितर्क, सम्प्रज्ञात योगभूमिका ११२
अविद्या ९३, ९६, १०९; देखो 'क्लेश';—के नाशका उपाय विद्या ९८, देखो 'विद्या';—के पर्याय 'दर्शनमोह'; जैनमें ९७,

मिथ्यादर्शन ११०;—का पर्याय 'मोह' न्यायमें ९६;—का विषय १२१;— बौद्धसम्मत ९७;—मूलक्लेश ९६;— संसार या दुःखका कारण ९६, ९९; इस विषयमें भिन्न-भिन्न दर्शनोंकी समान कल्पना, तुलना ९६–८
अविरति ११०
अवेस्ता ५
अव्यक्त १९, २२, २३, २८
अव्याकृत ८२, ८७;—निर्वाण ५८; —वाद ७८
अष्टाध्यायी, पाणिनि १० (पा. टि.)
असत् १९
असम्प्रज्ञात योग ११०;—योगी १११
असंस्कृत-आकाश और निर्वाण, बौद्धमें ७५, ७६
अस्मिता ९६, ११०; देखो 'क्लेश'
अहंकार ७१
अहन्त्व १२१–२;—बुद्धि १२०, १२३
अहंप्रत्यय ३९, १००
अहिंसा १०३
आकाश–असंस्कृत, बौद्धमें ७५
आगम ८१, ९५
आचारप्रणाली ८८
आचारांग १४ (पा. टि.);—सूत्र ५९ (पा. टि.), ८३ (पा. टि.)
आजीवक ६५, ६६, १२७
आत्म–अणुत्ववादी ८४;—बहुत्व २९,—वादी ८४; मध्यमपरिमाणवादी ८४;—विभुत्ववादी ८३, ८४
आत्मतत्त्व ६, ८, ९, १३ (पा.टि.) १४, १८, १९, २७, ६८; के पर्याय प्राण, भूत, जीवादि १४; —के स्वरूपके बारेमें भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें समानता ४८; —का पर्याय 'नाम' ४२–४; —का स्वरूप, बौद्ध दर्शनमें ३९;—उसके पुग्गल, पुरिस, सत्त, जीव, चित्त, मन, विज्ञान, आदि पर्याय ४०
आत्मद्रव्यका परिमाण-जैन, न्याय, वैशेषिक, रामानुज आदिमें ८०–१
आत्मवाद १०, १३, १४ (पा.टि.), २४, ३४—महत्त्वके मुद्दे २९; की सामान्य भूमिकाके निर्माणका क्रम १४ से;—में दो प्राचीन पक्ष : प्रकृतिजन्य और स्वतःसिद्ध जीववादीकी मान्य-

ताका निरूपण १५; इनका उद्गम और विकासक्रम ३४ से;—मीमांसा दर्शनमें ३८;—वैशेषिक दर्शनमें ३८;—
आत्मवादी ८, ११, २४
आत्माद्वैतवाद ३१
आत्मा-परमात्मा ३, ४, ६
आत्मैकत्व २६
आत्मौपम्य ११४, १२०
आधिदैविक ६१
आधिभौतिक ६१
आध्यात्मिक—अनुभवकी एकताका स्वरूप, निरूपणका भेद होनेपर भी ८८-६०;—जिज्ञासा ५;—दुःखका कारण अविद्या, देखो 'अविद्या';—परंपराओंमें चार सत्यका साम्य ६६;—मनुष्य ही देवाधिदेव जैन-बौद्ध परम्परामें, कर्ता या फलदाता नहीं ५६
आध्यात्मिक साधना ६१;—अथवा जीवन विषयक मुख्य चार सिद्धान्तोंका निरूपण ६३ से;—की सब दर्शनोंमें एकता, चिकित्सा शास्त्रके चार सिद्धान्तोंके साथ तुलना ६२-३; के चार सिद्धान्त : हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय ९३; देखो 'सत्य'—के प्रकार (हानोपाय) की वैदिक, जैन और बौद्धकी तुलना १०२ से;—का क्रमविकास १२७;—का निरूपण आजीवक, जैन, बौद्ध, योगशास्त्र और योगवासिष्ठमें १२७-८;—का विस्तार ही हानोपाय या मोक्षमार्ग नामका तीसरा सत्य १०२;—पातंजल सम्मतकी जैन-बौद्धके साथ तुलना १०२ से
आनन्द, चेतनकी भूमिका १०१
आर्य-अष्टांगिक मार्ग १०२
आर्य सत्य ६५
आलयविज्ञान ७७, ८२
आवरणविलय ८१
आसन १०३
आस्तिक १०, ११
आस्रव ९५, १०९;—कायिक, वाचिक, मानसिक योग और जैन सम्मत १०६
इण्डिया एज़ नोन टू पाणिनी १०
इन्द्र-बिरोचनकी आख्यायिका १२
इन्द्रियात्मवाद १३ (पा. टि.)
इस्लाम ६०
ईक्षण २०

ईश्वर ४,५६,६१,१२८,१३० की स्वरूप विषयक मान्यतामें भेदसे अभेद दृष्टिकी ओर विकास ५१-३;-का भक्तिमार्गके साथ अनिवार्य सम्बन्ध १२८-३०

ईश्वरकर्तृत्ववादी १२८

ईश्वरकृष्ण २२(पा.टि.), ३३,१२४

ईश्वरप्रणिधान १०५, १०७,—योगसम्मत नियम १०५-६; का विशाल अर्थ १०७

ईसाई ६०

उच्छेदवाद ६३-६४;—

उच्छेदवादी ६३

उत्तरमीमांसा ९४

उदयन ४७

उपनिषद् ५,८,१८,३२,४१,५३, ५४,६१,७६,८०,(पा. टि.), ६४, ९७, १६६, ऐतरेय १६ (पा. टि.);—कठ ८३ (पा. टि.), ९७ (पा. टि.); छान्दोग्य १२, १२ (पा. टि.), १६, १६ (पा. टि.), २० (पा. टि). २१ (पा. टि.);—तैत्तिरीय १३, (पा. टि.),८२ (पा. टि.),१०१, १०६ (पा. टि.);—प्रश्न १३ (पा. टि.);—बृहदारण्यक १९, १९ (पा. टि.), २०,२० (पा. टि.) ८३ (पा, टि.), १०६ (पा. टि.)

उपेक्षा भावना १११

उमास्वाति ६५

ऋग्वेद ८ (पा. टि.), ५३-६,६१,७६

ऋतम्भरा प्रज्ञा १२१,१३०

ऋषि-ऋण ७

एकदेव ५४;—वाद ५५

एकात्मवादी ८४

एकेश्वरवाद ५५

एडवर्ड केर्ड ५१ (पा. टि.)

एनिमिज़्म १८ (पा. टि.)

एषणा—त्रिविध ६२

कणाद ६७,६८

कपिल १२, ६७

कबीर ८५

कमलशील १२४ (पा. टि.)

करुणा १११

कर्णगोमिवृत्ति १२३ (पा. टि.)

कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सांख्य पुरुषमें उपचरित ७४

कर्म १०२—कुशल-अकुशल ४०;—चार प्रकारके जैन सम्मत, उदयमान आदि और बौद्ध सम्मत क्लेशके साथ तुलना १२६; तत्त्व २१, ४०

क्लेशमार्ग—देखो 'ज्ञानमार्ग' १२७-

३२;–के उत्थान एवं स्थापना-के पीछे रही हुई लोकसंग्रहकी दृष्टि १३०;—गीतामें समर्थन १३१
कर्ममीमांसा ६६
कषाय ९८, ११०
काशिकावृत्ति १० (पा. टि.)
कीथ ९
कुशल, कर्म ४०,—चित्त ११२;—जीवनमुक्तका पर्याय योगमें ६३
कूटस्थ २३, ३७;- चैतन्यवादी ३७; तत्त्वद्वैतवादी २८;-नित्य ६८, ७०,७२-७४,८२ ;— नित्यता ६७; नित्यवाद और परिणामि-नित्यवादमें अन्तर ६५;–पुरुष-वाद ६८, वादी ४३
केवलाद्वैत ३३,६०,८१,१२८;–द्वैती ७८,१२९; वादी ६७
केवलज्ञान १२५,१३०; देखो 'विवेक-ख्याति' ।–जैनसम्मत तथा पातंजलसम्मत प्रकृति-पुरुषके भेदज्ञानके साथ तुलना १०९
कौशल, बौद्धसम्मत ११५
क्रमप्रधानदेववाद ५५
क्रियायोग १०५,१०९,१११
क्लिष्टवृत्ति १०७, ११०;—पातं-जलसम्मतकी जैन सकषाय योग अथवा आस्रवके साथ तुलना ११०
क्लेश ९६, १०७, १०९, ११५, १२२, १२५, १२७—योग-सम्मत ९६, ११०;—की साङ्ख्यगत पाँच विपर्ययके साथ तुलना ९६;—दोष ११४;—नाश, विद्यासे १२२;-की योग-शास्त्रमें चार अवस्था १२५;—की जैनसम्मत चार कर्म और बौद्धसम्मत क्लेशके साथ तुलना १२५-६;—का अविद्याके साथ अनिवार्य सम्बन्ध १२२;—का पर्याय चरित्रमोह या कषाय, जैनमें ९७;—संस्कार १०८
क्लेशावरण १२७
क्षणवादी ८२;—वादिता ४६
क्षणिकवाद ४७;—वादी ४२, ४७
क्षिप्त १०८; देखो 'चित्त'
क्षेत्रज्ञ २३
गुणधरवाद ६८ (पा. टि.), ८८ (पा. टि.), ९८ (पा. टि)
गाँधीजी १३२
गीता २५ (पा. टि.), २६ (पा.टि.) ६७, ७४ (पा. टि.), ९४, ९७, १०२, १०४, १०६;—कर्ममार्गका समर्थन १३२

गुण-गुणी ३६;—का न्याय-वैशेषिकमें भेदसम्बन्ध ३९, ७३
गुप्ति १११
चतुर्व्यूह ६४
चरक १६, ३३;—संहिता १६ (पा. टि.);-में २४ तत्त्ववाला सांख्य १५ (पा. टि.)
चरमदेह ६३
चारित्र ११
चारित्रमोह ६७
चार्वाक १३;-परम्परा १३ (पा.टि.)
चिकित्साशास्त्र ६२-३; देखो 'आध्यात्मिक साधना'
चित्त १४, ४०, ११६, ११६-२० —कुशल ११२;—तत्त्व १००; —के विक्षेप आदि अन्तराय दूर करनेके उपाय ११६;—की क्षिप्त आदि भूमिकाएँ १०८; —बहिर्मुख ११६;—का वशीकरण १३६;—या सत्त्व अव्याकृत (बौद्धमें) ५८;—विलय ११०;—वृत्तिनिरोध १०६
चेतन १४, १८, २२, २३, १२०; —तत्त्वके स्वतंत्र अस्तित्वकी युक्तियाँ १००-१;—की पाँच भूमिकाएँ अन्न, प्राण आदि १०१;—वाद, कूटस्थ और परिणामी ३८
चेतनाद्वैत ३१;—वाद ३१
जड़-चैतन्यवादी २१
जप १०२;—या प्रणिधान ११०
जयराशिभट्ट १३ (पा. टि.)
ज़रथोस्त्री ९०
ज़रथोस्त्रियन गाथा ६
जाति ४५;—कूटस्थता ४५;—नित्यता न्याय-वैशेषिकसम्मत ४५
जीव १४, ४०
जीव-अजीव तत्त्वद्वैतवाद ३६;—तत्त्ववाद, प्रकृतिजन्य और स्वतःसिद्ध ३५
जीवतत्त्व ६८, ७४;—स्वतःसिद्ध ३६
जीवन्मुक्त ६२, ६३, १११, १३०; —जैनसम्मत सयोगी केवलीके साथ तुलना १११-२; के पर्याय जैन, बौद्ध और योग परंपरामें ६३
जीवन्मुक्ति ६२
जीवन्मुक्तिविवेक १०५
जीवाजीवाभिगम १८ (पा. टि.)
जीवात्मा-परमात्माके सम्बन्धकी चर्चा ६१ से
जैनदर्शन ४१-४७, ७८;—में मोक्षस्वरूप ८१-८३

जैन-बौद्ध परंपराओंमें देवोंका स्थान ५६-७;—में परमात्मा या पुरुषोत्तमका अर्थ ५७
ज्ञानमार्ग १२७, १२९-३१;—भक्तिमार्ग और कर्ममार्गकी चर्चा १२७;—आदिकी दार्शनिक भूमिका का विस्तृत निरूपण १२७-३२
ज्ञेयावरण १२७
तत्त्वज्ञान ९८
तत्त्वद्वैत १७, २१;—का निरूपण १७-२१;—वाद ३४;—वादी २१, २७
तत्त्वसंग्रह १२४ (पा. टि.)
तत्त्वसंग्रहपंजिका १२४
तत्त्वाद्वैत १७-१९, २१;—का निरूपण १८-२१;—मेंसे तत्त्वद्वैत भूमिकाका विकास २३;—वाद ३२;—वादी २१;—सांख्यकी तीन भूमिकाएँ ३२
तत्त्वार्थसूत्र ९७ (पा. टि.), १०५, १०९-१३, ११६; भाष्य १२७
तत्त्वोपप्लवसिंह १३ (पा. टि.)
तन्मात्रा ३५
तप १०२, १०५-६;—बौद्ध परंपरामे 'धुतांग' रूपसे १०६;—योगसम्मत नियम १०५;—संवरका अंग १११
तमस् १६, ३५
तारापोरवाला ९
तीर्थंकर ६३
तृष्णा ९७-८
तेरापंथ ७९
तैत्तिरीय संहिता ७ (पा० टि०)
त्रिगुणात्मक प्रकृति ३५
दर्शनमोह ९७
दि कन्सेप्शन ऑफ़ बुद्धिस्ट निर्वाण ७५
दिगम्बर ७९
दि ग्रेट एपिक ऑफ़ इण्डिया १२ पा० टि०
दि सिक्रेट ऑफ़ दि वेदाज़ ८
दीघनिकाय ११ (पा० टि०), ५९ (पा० टि०), ९५ (पा० टि०)
दुःख ९२-३;—हेय ९५
देव ५१, ५२, ५५-६;—सृष्टिके कर्ता, नीति नियामक, साक्षी एवं आत्मासे अभिन्न स्वरूपमें ५२, ५३
देव ऋण ७ (पा० टि)
देहविलय ४०
देहात्मवाद १२, १३ (पा० टि०)
दैवी सम्पत् १०४
द्रव्य ४७,;-बौद्धसम्मत सन्तान और जैनसम्मत अर्थकी तुलना ४७

द्राविड ६
द्वेष ६६, ११० ; देखो 'क्लेश'
द्वैतवादी १७, २३, २४; ६८,१२८;
—सांख्य २८,—जैन, बौद्ध,
सांख्य १२८
धर्म १११
धर्मकाय—लोकोत्तर बुद्ध ७७
धर्मकीर्ति १२३ (पा० टि०),
१२४ (पा० टि०)
धर्म-धर्मीका भेद-सम्बन्ध ३६
धारणा १०३
ध्यान १०२-३ ;—योग १०६
ध्यानाभ्यास १०६, १२१, १२४,
देखो 'योग'—के प्रश्न १२१-३
नागार्जुन ७८
नाम—आत्मतत्त्वका बौद्ध दर्शनमें
पर्याय ४१-४३, ;—तत्त्व
४८;—का स्वरूप ४२-३;—
का प्राचीन औपनिषद अर्थ ४१
नामरूप ४१, ;—वाद ४८
नारायण ५४
नास्तिक १०, ११, ४० ;—का
अर्थ १०, ११
निगोद १८ (पा० टि०)
नित्य ४४ ;—त्वके दो प्रकार :
कूटस्थ और परिणामी ४४-५
नियम १०३; १०५;—पातंजल-
सम्मत दूसरा योगांग १०५
निरन्वयनाशवादिता ४६ ;—वादी
४७,
निरुक्त ८
निरोध ६५ ;-मार्ग ६५;-सत्य ७६
निर्गुण पुरुष ७४
निर्ग्रन्थ परम्परा १८,७८, १०५
निर्वाण ४०,७४,७६–बौद्धसम्मत
असंस्कृत ७६;-अव्याकृत ५८,
७६;—का स्वरूप ७५;-बौद्ध-
परम्पराकी शाखाओंमें मतभेद-
का कारण ८०;—विज्ञानवाद
और शून्यवादमें ७७-८,–वैभा-
षिक ७४;-सौत्रान्तिकमें ७७
निर्विचार ११२
निर्वितर्क ११२
निष्कामता ६२
न्यायकुसुमाञ्जलि ४७
न्यायभाष्य ६३ (पा. टि.), ७०
(पा. टि.), ६४ (पा. टि.)
न्यायमंजरी ७० (पा. टि.)
न्यायावतारवार्तिकवृत्ति ५६ (पा.
टि.), ६५ (पा. टि.)
न्यायवैशेषिक ६०;६६-७४,८१,९४;
में गुण-गुणीका भेद ७३;–में
मोक्षका स्वरूप ६६-७०

न्यायसूत्र १२ (पा. टि.), २५ (पा. टि.), ७० (पा. टि.), ९४,९७, १०० (पा. टि.)
पटिसंभिदा १५ (पा. टि.) ४० (पा. टि.)
पतंजलि ९४, ९६, ९८
परब्रह्म ५३,५५,८५-६,१०७;-वाद ५५
परमदेव ५०
परमात्मा ५०-५५;६०,८६;-और जीवात्माके सम्बन्धकी चर्चा ६० से;--और परब्रह्मकी मान्यता ५५;—जैनसम्मतकी विवर्तवादी ब्रह्मवादके साथ तुलना ५७ ;-जीव और जगत् से अभिन्न रूपमें ५२;—के पर्याय न्याय, वैशेषिक, वैष्णव-परम्परा, सेश्वर सांख्य और योगमें ५३-४; की ध्यानोपासनाका विकास ५३-५५;—का बौद्धमें स्वरूप ६५-६७;—का जैन-बौद्ध परम्परामें अर्थ ५६-६०;—अथवा ईश्वरकी स्वरूपमान्यतामें भेदमेंसे अभेद दृष्टिकी ओर विकास ५१-३;-विषयक भिन्न-भिन्न दर्शनोंकी मान्यताका सार ६०-१
परिणामी -जीवतत्त्ववादी ३७;—तत्त्वद्वैतवादी २९;-नित्य ४२, ४५-६,६७; नित्यता ४६,८०-१; परिणामि-नित्यता और कूटस्थ नित्यताके बीच अन्तर ६४; और सन्ततिनित्यताके साथ साम्य ४७
परीषहजय १११
पर्याय ४७
पाणिनि १०-१
पार्श्वनाथ १२, ७८,१०२
पिटक ५, ११, ४२, ६१, १०२
पितृ-ऋण ७ (पा. टि.)
पुग्गल ४०, देखो 'आत्मतत्त्व'
पुद्गल—आत्मतत्त्वका पर्याय १४; —नैरात्म्यवादी ७५
पुनर्जन्म ६, ९, १०, २४, २५, २७, ३४, ४०, ६५, ६७; की प्रारंभिक कल्पना २४–२५
पुनर्वसु १९
पुरिस ४०; देखो 'आत्मतत्त्व'
पुरुष २४–५, ६७, ७०-२;—आत्मतत्त्वका पर्याय १५;—कूटस्थता ४५;—तत्त्व ४३;-निर्गुण ७४;--बहुत्ववाद ३०
पुरुषसूक्त ८
पुरुषाद्वैत ४८

पुरुषोत्तम ५४
पूर्वमीमांसा ६४
पौरन्दर १३
प्रकृति १५, १९, २२–३, २६, ३५, ६७, ७०, ७३;—जन्य जीववाद ३३; –तत्त्व ३४, ४६, ६७;—की अवस्थाएँ : संसार और मोक्ष ७०;—या निसर्गपूजामेंसे परमात्माकी ध्यानोपासनाका विकास ५३
प्रजापति ५४-५
प्रज्ञा (बौद्धसम्मत) ४०, ६८, १०२,—ऋतम्भरा १२१, १३०;—योगशास्त्रगत समाधि-अंग ११५; देखो 'विवेकख्याति'
प्रज्ञापनासूत्र १८ (पा. टि.)
प्रतीत्यसमुत्पाद ७५
प्रत्याहार १०३
प्रधान १५, २२–३, ४४-५, ७३;—तत्त्व २६, ३२, ३४;—पुरुषतत्त्वद्वैतवाद ३७;—बहुत्ववाद ३०
प्रधानाद्वैत ३१–३;—वाद ३६–६;—वादी १७
प्रधानैकत्व ३०
प्रपत्ति भक्ति १२८, १३०
प्रमाणवार्तिक १२३ (पा. टि.), १२४ (पा. टि.)
प्रलय ३५
प्रवृत्तिविज्ञान ७८
प्रशस्तपादभाष्य ९६ (पा. टि.)
प्रसंख्यान १११
प्राण १४;–चेतनभूमिका १०१
प्राणात्मवाद १३ (पा. टि.)
प्राणायाम १०३
बहु—आत्मवाद ५३ ;—पुरुषवाद ४८
बन्ध ६५ ;—मोक्ष ३७, ४०
बार्हस्पत्य १३
बुद्ध १२, ४३, ४६, ६४, ७६-८, ८०, ८२, ६५, ९७, १०२, १०४, १०७ (पा० टि०) १२६ ;—लोकोत्तर ७७
बुद्धघोष १०२, ११२, ११५, ११७-८
बुद्धि ४६, ७१ ;—तत्त्व ४३-४, ७२ ;—सत्त्व, प्रकृतिजन्य ४३
बोधिचर्यावतार १३२
बौद्धदर्शन ३६, ४०, ४२, ४५-६, १२६—में आत्मतत्त्व ४०;—में नाम या आत्मतत्त्वका स्वरूप ३६-४३;—में पुग्गल, पुरिस आदि आत्माके पर्याय ४०;—में निर्वाणका स्वरूप ७४-८;—की शाखाओंमें निर्वाण

विषयक मतभेदका कारण ८०; —में विदेहमुक्त चित्त ५८;— में परमात्माका स्वरूप ५८-६०
ब्रह्म ८, १४, १८-६, ५७-८;— तत्त्व ४९, ६०, ६८, ७४, १२६ ;–परिणामवादी ८६;— वाद निर्गुण ७८;–वादी केवलाद्वैती ८४
ब्रह्मलोक ८६-७
ब्रह्मविहार ११७
ब्रह्मसूत्र २० (पा० टि०), ३२, ४१ (पा० टि०), ६७, ६७;
ब्रह्माद्वैत और विज्ञानाद्वैतका तारतम्य ४८–४६
ब्राह्मण ५४-५ ;—ग्रन्थ ६१
भक्ति १२८, १३० ;—मार्ग, देखो 'ज्ञानमार्ग';–के साथ ईश्वरका अनिवार्य सम्बन्ध १२८, १३०
भगवतीसूत्र १८ (पा० टि०)
भगवद्गीता ९७ (पा० टि०)
भावना, मैत्री आदि १११, ११४, ११६-८;—विकसित करनेकी चर्चा योगशास्त्र, तत्त्वार्थ एवं विशुद्धिमार्गमें ११७-१९ ;—का पर्याय 'ब्रह्मविहार' ११७
भूत, आत्मतत्त्वका पर्याय १४ ;— चैतन्यवादी २१ ;—संघात १००; संघातवादी १२;— स्थूल ३५
भूमा १०७
भूमिका, तीन मानव-मानसकी ५१
मज्झिमनिकाय ५६ (पा० टि०), ८३ (पा० टि०), ६५ (पा० टि०), ९७ (पा० टि०), १०२ (पा० टि०), १०७ (पा० टि०)
मध्यमपरिमाण ८१, ८८;—जीववादी ८६
मध्यम प्रतिपदा ६४,७५
मध्व ६७,८६
मन ४०, ४५, १००,१०१
मनु ११
मनुस्मृति ७ (पा. टि.), ११ (पा. टि.), १०६ (पा. टि.)
महाभारत १२, १५ (पा. टि.)
महायान ७७, १०७, १३२
महावीर १२, ७८, ८०
महाव्रत १०३–५
महासांघिक ७६
महेश्वर ५४
माध्यमिक ७४;—शून्यवाद ७८
माध्यमिकवृत्ति ६० (पा. टि.)
माया ३१;—वाद ४८

मिथ्यादर्शन ११०
मिलिन्दपञ्हो ८७ (पा. टि.)
मुक्ति ६७
मुदिता भावना १११
मूढ १०८, ११६
मेक्डूगल ७ (पा. टि.)
मेक्समूलर ६ (पा टि.)
मैत्री १११, ११७–९
मोक्ष २४, २७, ३२, ३४, ७०, ६५, १३१;—की कल्पनाका उद्भव २४–७;—पुरुषार्थ १७, २४, ३३;—मार्ग या हानोपाय नामक तीसरा सत्य १०२; –या विदेहमुक्तिके पश्चात् जीवात्माके रहनेका स्थान ८३–८८; –विषयक सर्वसामान्य मान्यता ८८;–का गीता एवं महायानमें विकास १३१;—सांख्य मतमें २८;—के स्वरूपके बारेमें दार्शनिक मान्यताएँ ६२–८२;—जैनमें ८०–२;—के स्वरूपके बारेमें जैन परंपराओंमें मतभेदका अभाव ७६;—न्याय-वैशेषिकमें ६६–७०; सांख्य-योगके साथ तुलना ७०–३;—बौद्ध परंपरामें ७४–८;—के विषयमें बौद्ध शाखाओंमें मतभेदका कारण ८०; —शंका, रामानुज वल्लभमें ७४;—सांख्य-योगमें ७०–३
मोह ६६
यज्ञ १०२
यम १०३–४;—अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत १०३–४;—आध्यात्मिक साधनाकी पूर्वभूमिका १०४, १०५–६;—प्रथम योगांग १०४
यशोविजयजी ११३, १२६ (पा. टि.)
याज्ञवल्क्य १२
योग ६०, ६७,७०, १०१, १०३;—यम आदि आठ अंग १०३;—चित्तवृत्तिनिरोध १०६;—जैनसम्मत १०६;—निरोध जैनमें ११२;—की जैनसम्मत 'संवर' के साथ तुलना ११०;—की बौद्धसम्मत 'समाधि' के साथ तुलना ११२;—सिद्ध करनेके अभ्यास, वैराग्य आदि उपायोंकी जैनसम्मत गुप्ति, समिति आदिके साथ तुलना १११;—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ११०–२
योगदर्शन ७०,६३ (पा. टि.), ६४

(पा. टि.), १०४-५ (पा टि.), १०६ (पा. टि.), १११-३ (पा. टि.), ११५ (पा. टि.) १२६ (पा. टि)
योगनिष्ठा १३१
योगवासिष्ठ १२७
योगशतक १२७ (पा टि.)
योगशास्त्र ५४, ६४, १०२, १०४-५, १०८-११३, ११५-७, १२७, १२६
योगसूत्र २५ (पा. टि.), ३३, ५६ (पा. टि.) ७१ (पा. टि.), ६६ (पा. टि.) १०३ (पा. टि.), ११६ (पा. टि.); १२०-१ (पा टि.) १२५-६ (पा. टि.); —भाष्य ५६ (पा. टि.), ९३ (पा. टि.), १०८ (पा. टि.)
योगाचार ७४, ८२
रजस् १५, ३५
रत्नप्रभा ४१ (पा. टि.)
राग ९६, ११०; देखो 'क्लेश'
रामानुज ६७-८, ७४, ८१, ८५
रायपसेणीयसुत्त १२ (पा. टि.)
राशिपुरुषवादी सांख्य २२ (पा. टि)
रिलिजन एण्ड फिलोसोफ़ी ऑफ़ वेद एण्ड उपनिषदस् १०
रिलिजन एण्ड साइन्सिज़ ऑफ़ दि लाइफ़ ७ (पा. टि.)
रूप ४१
लिंगशरीर ४३
लोक-लोकान्तरवाद १८
लोकोत्तर,—बुद्ध ७७;—भूमि५९;—सत्त्व ६३
व्रक्कली ११५
वरुण ५६
वल्लभ ६७-८, ७४, ८६
वाचस्पति मिश्र १२४
वात्स्यायन ६४
वात्सीपुत्रीय ७६
वामन जयादित्य १०
वासुदेव ५४, ८६
विक्षिप्त चित्त १०८
विज्ञान,—चेतनकी भूमिका १०१; बौद्धसम्मत ४१, ४८; स्कन्ध, ४८,—वाद में निर्वाणका स्वरूप ७७-८;—वादी ७४, ८२, ८७—सन्तति ४६, ८७
विज्ञानाद्वैत और ब्रह्माद्वैतका तारतम्य ४६
वितर्कबाधा १०४
विदेहमुक्ति ६२, ११०;—जैनदर्शनमें ८६-७;—न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य-योगमें ८४-५;—के पश्चात् जीवात्माके रहनेका स्थान ८३;—बौद्धमें ८७;—

ब्रह्मवादमें ८४-५;—में जीवात्माके स्वरूपके बारेमें चर्चा ६३ से;—रामानुज, मध्व, वल्लभमें ८५-६
विद्या ९८,१२३;—के पर्याय अक्षपाद, जैन, बौद्ध और पतंजलिमें ९८;—की नित्यताका स्पष्टीकरण १२३.
विद्यारण्यस्वामी १०५
विपस्सना ९८
विभज्यवादी ४२
विभुपुरुषवादी ६९
विरति १०४
विवर्तवादी ५७
विवेकख्याति ९८,१२९-३०,—की बौद्धसम्मत प्रज्ञा तथा जैनसम्मत केवलज्ञानके साथ तुलना १२५-६
विवेकानन्द १३२
विशिष्टाद्वैतवादी ६८; ८५
विशुद्धिमार्ग (विसुद्धिमग्ग) १५ (पा. टि.) ४० (पा. टि.) ११२,११३ (पा. टि.) ११५-६ (पा. टि.)
विश्वकर्मा ५४-५
विष्णु ६८,८६
वीर्य ११५
वृत्ति, क्लिष्ट-अक्लिष्ट १०७,१०९,—चक्र १०७
वेद ५,८;९,५३,५५,७९
वेदना ४१
वेदान्त—उपनिषद् ७९
वैकुण्ठ ८६
वैदिक दर्शन ६५-६,६८
वैदिक मंत्र ९
वैभाषिक ७४-५;—में निर्वाणस्वरूप ७५
वैराग्य ११०,११२,—पर और अपर ११३-४
वैशेषिक ३८,६७-८;—में आत्मवाद ४३-४
व्युत्थान १०८,१२१
शंकराचार्य (शंकर) ३३, ६७, ७४, ७८,
शरीर ८४, ८७
शांकर भाष्य ४१ (पा. टि.)
शान्तरक्षित १२४ (पा. टि.)
शाश्वत ४४,६४;—वाद ६४
शील ४०,१०२,१०४-५;—सम्पत्तिविपत्ति १०५
शून्यवाद ७८
श्चेरबात्स्की ७५
श्रद्धा ११५
श्वेताम्बर ७९

षड्दर्शनसमुच्चय ३० (पा. टि.)
संज्ञा ४१
संतति ४६,४८;—नित्यता और परिणामि-नित्यताकी तुलना ४७;—नित्यताका अर्थ ६५;—की जैनसम्मत 'द्रव्य' के साथ तुलना ४७
संप्रज्ञातयोग ११०,११२
संयुत्तनिकाय ६५ (पा. टि), ८३ (पा. टि.)
संयोजना ६०, १२६
संवर ९५;—की पातंजलसम्मत 'योग' के साथ तुलना ११०; के उपाय १११,–के अंग १११–की बौद्धसम्मत 'समाधि' के साथ तुलना ११२
संस्कार ४१
संस्कृत ७५
सकषाय प्रवृत्ति ११० ;—देखो 'क्लिष्ट वृत्ति'
सत् १६ ;—तत्त्व ८, १९
सत्त ४०
सत्त्व १४, ३३ ;—गुण सांख्यसम्मत १५, ३५; —बौद्धसम्मत ५६ ;—लोकोत्तर ६३
सत्य, आर्य ९५ ;—जैनमें बन्ध आदि, बौद्धमें दुःख आदि और योगशास्त्रमें हेय आदि ६५
सन्मतितर्क १०१
समयसार ६० (पा० टि०)
समाधि ४०, १०३-४, ११२-६—का बौद्धसम्मत अर्थ ११२;—अर्पणा ११२, ११६;—के साथ सम्प्रज्ञात योगकी चार भूमिकाओंकी तुलना ११२;—योग और संवरके साथ तुलना ११२;—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ११३,;—साधक अंगोंमें समत्वकी आवश्यकता ११५
समिति १११
समुदय ६५
सम्यक् चारित्र १०२
सम्यग्ज्ञान ६८, १०२ ;—अविद्याके निवारणका उपाय ९२
सम्यग्दर्शन १०२
सयोगिकेवली ६३, ११२,; देखो 'जीवन्मुक्त'
सर्वज्ञ ८०
सर्वदर्शनसंग्रह १५ (पा० टि०)
सविचार ११२
सांख्य २७, ४५, ४८, ६६, ७३;—दर्शन ३०, ४१-६, १२६;

—पचीस और चौबीस तत्त्व-
वादी २२ (पा० टि०) ;—
परम्परा १७, २२, ७३;—में
कर्तृत्व-भोक्तृत्व उपचरित ७४;
—में विवेकख्याति १२५;—
सेश्वर ६०
सांख्य-योग ७०-२, ७७, ८०, ८४,
६४ ;—में मोक्षस्वरूप ७०-२
सांख्यकारिका २२ (पा० टि०),
२७ (पा० टि०) २८ (पा०
टि०), २९ (पा० टि०),
७०-१ (पा० टि०), ६६,
१२४ (पा० टि०),
सांख्यतत्त्वकौमुदी १२४ (पा० टि०)
सामान्य ४५
सायणभाष्य ६
सिद्धस्थान ८७
सिक्स सिस्टम्स ऑफ़ इण्डियन
फिलोसोफ़ी ६ (पा० टि०),
१५ (पा० टि०)
सुखवेदना
सुगत ६३
सूत्रकृतांग १२ (पा० टि०)
सेश्वर सांख्य ६०
सौत्रान्तिक ७४, ७७ ;—में निर्वाणका स्वरूप ७७
स्कन्ध ४१
स्थविरमार्ग १३१
स्थानकवासी ७६
स्थिरात्मवादी ७६
स्मृति ११५
स्वतःसिद्ध, जीव ३७;—जीववाद
३७;-तत्त्वाद्वैतमें दो वाद ३५-६
स्वयम्भू ५४
स्वर्ग २५; वाद २७
स्वाध्याय १०५-६
हान ६४-५
हानोपाय ६४-५, १२६
हिन्दू वेदधर्म ५१
हिरण्यगर्भ ५४
हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑफ़
आजीवकाज ६६ (पा० टि०)
हीनयान ७६
हेय ९४-५
हेयहेतु ६४-५
होप्किन्स १२ (पा० टि०)